॥ ॐ ॥

महा वाक्य

लेखक

परमहंस स्वामी योगानंद
(आलू वाले बाबा)

वेदान्त केसरी कार्यालय,
बेलनगंज—आगरा।

१०००] संवत् १९८८ [मूल्य १)

मुद्रक और प्रकाशक—
रामस्वरूप शर्मा,
केसरी प्रेस, बेलनगंज-आगरा।

प्रस्तावना।

संपूर्ण लौकिक और परमार्थिक ज्ञान के भंडार वेदों का सारांश रूप उन वेदों के महावाक्य हैं जो भिन्न भिन्न दीखते हुए भी तत्त्व में एक ही हैं तथा इस प्रकार अपने लक्ष की एकता को अत्यन्त दृढ़ता पूर्वक सिद्ध करते हैं। पूर्व काल में इन महावाक्यों का उपदेश केवल पूर्ण अधिकारी मुमुक्षुओं को ही वेदान्ताचार्य ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुओं से प्राप्त होता था और वह भी सुदीर्घ कालीन अभ्यास और गुरु सेवा के उपरान्त ही। महाक्यकी तेज धारसे अनधिकारी या मन्द बुद्धि मुमुक्षु संसारका नाश न करके अपना ही नाश न कर बैठें इसीलिये आचार्यों ने इस अमोघ शस्त्र को गुप्त ही रक्खा।

परन्तु अब समय ने पलटा खाया और विदेशी लोग यहां के विज्ञान को अपने वहां प्रकट करने लगे ऐसा देख कर अहैतुक उपकारी आत्म विद्या के आचार्यों ने भी लोगों को अपनी दया से वंचित रखना उचित न समझा और इस विचार से कि मन्द बुद्धि अनधिकारी पुरुष तो यों भी गिरेंगे ही फिर यदि उन उपदेशों से कुछ सूक्ष्म बुद्धि अधिकारियों का भला हो सके तो अच्छा ही है—इस अमूल्य रत्न को सर्व साधारण के सन्मुख रख दिया। प्रस्तुत ग्रन्थ एक ऐसे ही परम तत्त्वज्ञ ब्रह्मनिष्ठ तथा अनुभवी आचार्य की परम कृपा का फल है।

तत्त्व बोध को प्रत्यक्ष कराने के लिये महावाक्य के सिवाय अन्य कोई साधन नहीं है। वह अत्यन्त गूढ है तो भी इसकी इतनी सरल व्याख्या की गई है कि सामान्य भाषा ज्ञान वाला भी इसके गूढ़ रहस्य को समझ सक्ता है। विषय की गम्भीरता तथा युक्ति पूर्ण विवेचन के कारण यह पुस्तक विद्वान् मनुष्यों के लिये भी समान रोचक और उपयोगी है। विभिन्न दृष्टांतों द्वारा दुर्बोध विषय को सर्व सुलभ बना दिया है जिससे विद्वान्, अविद्वान्, उत्तम तथा मन्द अधिकारी सभी इससे पूर्ण लाभ उठा सक्ते हैं और साधारण मुमुक्षु भी बहुत कुछ श्रेय मार्ग पर लग सक्ते हैं। वेदान्त शास्त्र के रहस्यों से अनभिज्ञ मनुष्य भी वेदान्त शास्त्रके रहस्यसे पूर्ण अभिज्ञ होसक्ते हैं। तात्पर्य यह है कि सभी श्रेणी के श्रेयाभिलाषी सज्जन इस ग्रन्थ रत्न से अनुपम लाभ उठा सकते हैं और महावाक्य के वास्तविक अधिकारी पुरुषों का तो यह प्राण ही होगा।

इस ग्रन्थ के विषयों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक सामान्य मनुष्यों के लिये, दूसरे साधक मुमुक्षुओं के निमित्त। जीव, ईश्वर, अज्ञान आदि प्रारंभिक लेखों में वेदान्त के रहस्य रूप मुख्य विषयों का इतना स्पष्ट विवेचन किया गया है जितना यदि अलभ्य नहीं तो दुर्लभ्य अवश्य है। यह भाग सामान्य पुरुषों के अनेकों भ्रमों को दूर करके उन्हें श्रेय मार्ग में प्रवृत्त कराने वाला है। इसका उत्तर भाग अधिकारी मुमुक्षुओं को महावाक्यका बोध कराने वाला तथा उन्हें नित्य आत्म परीक्षा कराते हुए आत्म बोध कराने वाला है। इस उत्तर भाग में

शास्त्रीय वचनों को स्वानुभव से युक्त करके इस प्रकार प्रकट किया है कि उस पर मनन करके कतिपय आत्म वंचक मनुष्यों को छोड़ कर प्रत्येक श्रेयाभिलाषी इस भव भय विनाशिनी तीक्ष्ण असिधारा का उचित प्रयोग सीख कर अज्ञान का नाश करने में स्वयोग्यतानुसार समर्थ होगा।

ब्रह्मचारी विष्णु।

उपक्रमणिका।



महा वाक्य ।



शान्ति पाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण मेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति ।

शब्दार्थः—यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण बनता है, पूर्ण में से पूर्ण ले लेने से पूर्ण ही शेष रहता है । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति ।

[२]

जीव ।

जगत में प्रत्येक का वर्ताव अपने को कायम करके होता है, जो अपनेको कायम नहीं करता, वह व्यक्ति भावसे किसी प्रकारका वर्ताव नहीं कर सक्ता । प्रत्येक अपने को कायम करके 'मैं हूं' ऐसा कहता है परन्तु जब पूछा जाता है कि तू कौन है ? तब यथार्थ उत्तर नहीं मिलता । उत्तर देने वाला या तो अपने स्थूल शरीर का नाम बताता है अथवा जाति, वर्ण या कार्य को बतलाता है । कभी २ 'मैं जीव हूँ' ऐसा भी कहता है परन्तु उसे वास्तविक खबर नहीं है कि मैं कौन हूँ । मैं जीव हूँ, आत्मा हूँ, मनुष्य हूँ, प्राणी हूँ या खुदा का बन्दा हूँ इत्यादिक कथन दूसरे से सुन कर करते हैं । यदि उनसे ठीक २ प्रश्नोत्तर किया जाय तो वे किसी प्रकार अपनेको सिद्ध नहीं कर सक्ते—बतला नहीं सक्ते ! अपनी सिद्धि हुए बिना ही सब कार्य करते हैं यह कितना आश्चर्य है ! यदि किसी पाश्चात्मिक रोशनी से चकाचौंध हुए मास्टरसाहब से ऐसा प्रश्न किया जाय कि तुम कौन हो तो उनका मिजाज हाथ में नहीं रहना ! वे कहने लगते हैं कि कैसा बेहूदा सवाल है ! क्या तुझे दीखता नहीं कि मैं कौन हूँ ! जब प्रश्न करने वाला कहता है कि आप अपने को सिद्ध कीजिये ! तब वे कहते हैं कि मैं तो हूँ ही, उसमें सिद्ध ही क्या करना है ? जब प्रश्न करने वाला कहता है कि आप हाथ हो, पैर हो, शरीर हो, बोलने वाले हो, कौन हो ? इसका विचार युक्त उत्तर वे दे नहीं सक्ते और नास्तिक भाव से आच्छादित होकर कहते हैं कि मैं शरीर युक्त

चैतन्य हूँ इसलिये शरीर को मेरा कहता हूँ। जब शरीर के संयोग एकत्र होते हैं तब एक प्रकार का चैतन्य उसमें पैदा हो जाता है, वह ही जीव कहलाता है। इस प्रकार अंट संट कहते हैं, संतोष जनक उत्तर नहीं दे सक्ते। अन्य उत्तरों की अपेक्षा से व्यक्ति व्यवहार के भाव से 'मैं जीव हूँ' इतना कहना कुछ ठीक दीखता है परन्तु ऐसा कहने वाला शब्द मात्र जीव है क्योंकि वह जीव को न तो आप समझ सक्ता है न दूसरे को समझा सक्ता है, न उसे अपना पूर्ण निश्चय ही है। प्रत्येक का नाम, जाति, कुल, धंधे आदिक तो शरीर के हैं, शरीर से ही उनका निर्णय है अथवा शरीर होने के बाद दिये गये हैं इसलिये उनको 'मैं' कहना असत्य ही है। आपस के व्यवहार के निमित्त किसी भी नाम को धारण करके अपने को उस नाम वाला कह सक्ते हैं। नाम व्यवहार के निमित्त है, वस्तु रूप नहीं है। जितने नाम हैं, सब संज्ञा रूप हैं, समझने के लिये हैं, संज्ञा रहित नाम व्यर्थ है। नाम भिन्न होता है, नामी भिन्न है, नाम शब्द है और नामी पदार्थ है। इन दोनोंका जिसने एक भाव कर रक्खा है-एक समझ रक्खा है उसके सामने नाम से पदार्थ आता है और पदार्थ से नाम आता है। जो इस संज्ञा को नहीं जानता उसके लिये ऐसा नहीं होगा यानी नाम से पदार्थ भाव न होगा और न पदार्थ से नाम आवेगा। इसी प्रकार जीव पदार्थ और जीव नाम का सम्बन्ध दूसरों के कथन से जानते हैं परन्तु जीव का यथार्थ बोध नहीं है। 'मैं जीव हूँ' ऐसा कहने वाला पूर्णता से जीव को समझता नहीं है। जैसा कि चार्वाक मानते हैं, शरीर तो जीव है नहीं क्योंकि

मरे हुए शरीर में जीवत्व नहीं रहता इसलिये जिसका शरीर में जीवत्व है, वह शरीर से कोई भिन्न ही है परन्तु उसका स्वरूप देखने में नहीं आता। शरीर में जो श्वासोश्वास की क्रिया होती है, वह भी जीव नहीं है। कोई कहे कि मरे हुए शरीर में वह ही ही तो नहीं रहती तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि श्वास प्रश्वास वायु के विकार हैं इसलिये जीव नहीं हैं। तब कहा जाय कि जिस करके प्राणापान की क्रिया चलती रहती है, वह जीव है यानी जिसने प्राण को धारण कर रक्खा है, वह जीव है, यह सब कल्पना है। जीव का वास्तविक स्वरूप क्या है, इसका बोध अब भी न हुआ! जब शास्त्रों में भी जीव का स्वरूप खोजने को जाते हैं तब निर्जीव शास्त्र से भी समाधान नहीं होता, वहां भी चक्र का चक्र हा रहता है, सवाल हल नहीं होता, वहां भी स्पष्ट लिखा हुआ नहीं दीखता जिससे सामान्य बुद्धि वाले समझ सकें और जहां कुछ समझ में आता है वहां शास्त्र-कारों का परस्पर विरोध दीखता है। जिस प्रकार वेदान्ता-चार्य जीव का स्वरूप वर्णन करते हैं, वैसा जीव का स्वरूप न्याय शास्त्र वाले नहीं मानते, वे जीव का स्वरूप और ही प्रकार का कहते हैं। सांख्य शास्त्र और योग शास्त्र में भी कुछ अंतर ही पड़ता है। जब किसी पहुंचे हुए साधु संत से पूछते हैं तो वे अधिकारी न समझ कर उत्तर ही नहीं देते। यदि कभी कोई कृपालु उत्तर देता है तो वह अपने अनुभव के अनुसार कहता है कि जीव कोई है ही नहीं, सब परब्रह्म ही है। अज्ञान से न होते हुए जीव और जीवों से भरा हुआ संसार और संसार

की सब सामग्री दीखती है परन्तु वस्तुतः परब्रह्म सिवाय और कुछ है नहीं ! जीव ही परब्रह्म हैं ! कई जीव को उत्पत्ति नाश वाला मानते हैं और शास्त्र में ऐसा वर्णन किया है कि जीव उत्पत्ति नाश रहित है। कोई जीव को ईश्वर का अंश कहते हैं और दूसरों का कहना है कि ईश्वर स्वजाति, विजाति और स्वगत भेद से रहित टुकड़ा रहित है। कोई जीव को एक मानते हैं तो कोई नाना-बहुत मानते हैं। अद्वैत वादी कहते हैं कि उपाधि भेद से नानात्व दीखता है, जीव एक ही है जीवाभास अनेक है, जब उपाधिका समूल लय हो जाता है तब जिसे प्रथम जीव समझे थे वह परब्रह्म ही सिद्ध होता है, अन्य नहा। अपनी बुद्धि से, शास्त्र से और संत आदि की वाणी से भी सामान्य बुद्धि वाले को जीव के स्वरूप का निश्चय नहा होता, कर्ता भोक्ता जीव को न जानते हुए सब कर्ता भोक्ता बने हैं और अंधे संसार कूप में इधर से उधर ठोकरें खारहे हैं।

इस प्रकार विचार करने वाला एक पुरुष अपनी शंका की निवृत्ति और अपना स्वरूप-जीव का स्वरूप समझने के लिये एक ब्रह्मनिष्ठ संत के पास पहुँचा और प्रणाम करके बोलाः—महाराज ! मैं एक क्षुद्र प्राणी अज्ञानी हूँ, मैं आप से बात कर रहा हूँ और संसार में सब प्रकार का व्यवहार करता हूँ, परन्तु 'मैं कौन हूँ' इसकी मुझे खबर नहीं है, यह बड़ा आश्चर्य है ! सब कुछ करता हुआ भी कौन करता है, इसका मुझे पता नहीं है, इसके जानने के निमित्त अपनी बुद्धि अनुसार मैं सब प्रयत्न कर चुका हूं तो भी निर्णय करने में असमर्थ हूँ अब आप

कुछ सद् बुद्धि दीजिये और समझाइये तभी मैं समझ सकता हूँ। मनुष्य सब प्रकार का प्रश्न करते हैं परन्तु मेरा प्रश्न तो मूर्खता का ही है क्योंकि प्रश्न करने वाले को अपना ही पता नहीं है और प्रश्न तो कर ही रहा है! सब पदार्थों के जानने की इच्छा होती है परन्तु अपने जानने की इच्छा नहीं होती ऐसा क्यों है? आप कहेंगे कि तू तो अपने जानने की ही इच्छा करके मेरे पास आया है तो सुनिये यह इच्छा मुझमें प्रकट नहीं हुई है, एक बार मैं गंगा किनारे पर घूम रहा था, ऊपर के पहाड़ में से आवाज आई:— 'तू अपने को तो जानता ही नहीं है!' मैंने इन शब्दों के बोलने वाले को जानने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु जान न सका! वहां से पहाड़ पर चढ़ने का कोई मार्ग न था, वहां की किसी गुफा में से यह आवाज आई थी। जब मैं बोलने वाले को न देख सका तब मैं उन शब्दों का बिचार करने लगा। यह मेरे लिये एक भारी समस्या हो गई। मैं चौंका और आश्चर्य में डूब गया! 'हाय! क्या यह शब्द मुझसे ही तो नहीं कहा है? मैं भी तो अपने को नहीं जानता, 'मैं कौन हूं; कैसा हूँ, किससे हूं,' इत्यादि विचार करते २ मैं थक गया परंतु मेरे दिये हुए अनेक प्रकार के उत्तरों से मेरा समाधान न हुआ। बाद में मैंने अनेक शास्त्र देखे उनमें से जानना चाहा परंतु उससे भी कार्य सिद्ध न हुआ पश्चात् मैंने उस प्रश्न का उत्तर पाने के लिये साधु संतों से मिलने के उद्यम को आरंभ किया। मेरे उत्तर से उन लोगों का उत्तर विलक्षण था, शायद वे सच्चे हों परन्तु जब तक मेरे मनका समाधान न हो तब तक उनके कहे को किस प्रकार मानूँ! पहाड़

में से आई हुई आवाज ने मुझको घोर अंधेरे में होने का भान कराया है। आपके पास भी मैं उस उत्तर के निमित्त ही आया हूँ। मैं प्रथम भी दो चार मनुष्यों के साथ आपके दर्शन कर गया हूं। आपने दूसरों की शंकाओं का समाधान करके समझाया था इससे मुझे विशेष श्रद्धा हुई है। आप मुझे मेरा स्वरूप समझा कर हृदय में बैठा दीजिये, ऐसी मेरी प्रार्थना है।

संत ने मनुष्य की बुद्धि की परीक्षा वचनों से करली और दो तीन दिन बाद उसकी शंका का उत्तर देने को कहा और उसे रोज अपने पास आने की आज्ञा भी दी। चौथे दिन जब संत ने जान लिया कि यह मनुष्य बुद्धि का तीव्र है, कुछ पढ़ा लिखा है, शुद्ध आचरण वाला और मुझ पर भाव वाला है तब उसे रात्रि को एकांत समय में आने को कहा, वह पुरुष अपनी जिज्ञासा पूर्ण करने के लिये नियत समय पर आ पहुंचा, संत एक बगीचे में टिके हुए थे, वहां एक विशाल मंदिर था, उस मंदिर की छत पर संत बैठे थे, वह मनुष्य वहां पहुँचा। संत उसे अपने सामने बैठा कर इस प्रकार बोले:—

संतः—चार दिन पहिले तूने जो प्रश्न किया था, उसके उत्तर के लिये तैयार हो जा! तेरा प्रश्न छोटा सा दीखता हुआ भी गंभीर आशय वाला है। जिसको सच्चे मन से अपने जानने की इच्छा होती है उसे शास्त्रकारों ने धन्यवाद दिया है! शुद्ध अंतः-करण विना अपना स्वरूप समझ में नहीं आता। तुझे जो अपने जानने की इच्छा है तो विचार कर कि इच्छा करने वाला कौन

है। क्या वह तू ही है अथवा इच्छा करने वाला कोई और है! क्या तू और है और जिसे जानने की इच्छा करता है वह और है?

मनुष्यः—अरे! मैंने सब विचार तो किया था परन्तु यह विचार नहीं किया! दीखता तो ऐसा है कि मैं ही इच्छा करता हूँ तब इच्छा करने वाला मैं ही हूं परन्तु शास्त्रों में मैंने आत्मा को इच्छा रहित पढ़ा है। यदि मैं आत्मा हूँ तो इच्छा न होनी चाहिये और यदि इच्छा है तो मैं आत्मा नहीं हूं।

सन्तः—आत्मा इच्छा नहीं करता, तू इच्छा करता है इसलिये ऐसा विचार कर कि तू आत्म भाव में नहीं है किन्तु इच्छा करने वाला जीव है। यह ठीक है या नहीं?

मनुष्यः—हां महाराज!

सन्तः—तू आत्मा है, इस प्रकार संत और शास्त्र पर श्रद्धा रख कर समझ। विशेष स्पष्ट करके मैं तुझे समझाता हूँ, आत्मा को अनन्त, अनादि और अक्रिय जान, इच्छा को विकारी-उत्पत्ति नाश वाली समझ, तेरा स्वरूप इस प्रकार जीव है:—इच्छा करने वाले आत्मा को जीव कहते हैं। जीव में दो अंश है, आत्म रूप चेतन और इच्छा रूप प्रकृति। चेतन इच्छा नहीं कर सक्ता और प्रकृति भी जड़ होने से इच्छा नहीं कर सक्ती। पुरुष-चेतन और प्रकृति का

विरुद्ध लक्षण होने से मेल नहीं होता। आत्मा की छाया प्रकृति में और प्रकृति का स्वरूप आत्मा में इस प्रकार अज्ञान का जो भास है इसी में इच्छा है। प्रकृति आत्मा और छाया इन तीनों का एक मेल रूप जो तीनों का अभेद है– एक माना गया है, वह तू मेरे सामने प्रश्न करने वाला है, व्यवहार में उसे जीव कहते हैं। जीवमें तीन तत्त्व हैं, चेतन, माया और दोनोंका मेलरूप अज्ञान। इन तीनों का जो एक रूप समझा जाता है वह अज्ञान से समझा जाता है। जब अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तब जड़ चेतन के मेल की भी निवृत्ति हो जाती है। अब रहे दो, उनमें एक सत् स्वरूप, दूसरा उससे विपरीत स्वभाव वाला भ्रांतिमय है। यह भ्रांति भी अज्ञान से है! जब अज्ञान निवृत्त हो जाता है तब उसके विकार रूप की भी निवृत्ति हो जाती है, शेष एक अद्वैत तत्त्व ही रह जाता है। इस प्रकार जीवका पृथक्-करण किये बिना जीव का स्वरूप समझने में नहीं आता।

मनुष्यः—जब तीन मिल कर एक हैं तब उन तीनों के तीन हिस्से मालूम क्यों नहीं होते?

सन्तः—अज्ञान में क्या मालूम हो? न तीन मालूम होते हैं न एक। इसी का नाम अज्ञान है। जीव भाव अज्ञान रूप है और जीव तत्त्व शुद्ध ब्रह्म स्वरूप है। यदि विचार कर देखा जाय तो जीव में रहे हुए तीनों भाव मालूम भी पड़ते हैं। कोई भी जीव अपने को भीतर से अज्ञानी-अपूर्ण नहीं समझता, यह चेतन का स्वरूप है क्योंकि चेतन कभी अज्ञानी-अपूर्ण नहीं

है। अनेक प्रकार की इच्छाओं का होना, यही अज्ञान का स्वरूप है क्योंकि आत्मा को इच्छा नहीं होती और जो होती है सो अज्ञान से है। जिसके लिये वह इच्छा करता है वह शरीर और जिन पदार्थों की इच्छा करता है वे पदार्थ जड़ माया रूप है इस प्रकार एक ही जीव में रहे हुए तीनों अंशों का भान होता रहता है। वे तीनों होते हुए भी अद्वैत आत्म तत्त्व में हानि नहीं है क्योंकि आत्मा में विकार होकर ये तीनों हुए नहीं है परन्तु न हुए अज्ञान से हुए के समान मालूम होते हैं, यह भ्रम है। भ्रम के पदार्थ जिसमें भ्रम हुआ हो उसको विकारी अथवा दूषित नहीं कर सके। जो तू कहे कि मैं तो आप से मायिक पदार्थ की इच्छा नहीं करता तो सुनः—तू ने अज्ञान के कारण अपने को भी एक मायिक पदार्थ बना कर इच्छा की है क्योंकि अपने को दूसरा स्वरूप समझे विना अपनी इच्छा नहीं होती। जब ऐसा जानता है कि मायिक पदार्थके समान जीव भी कोई मायिक पदार्थ होगा तब इच्छा भी मायिक है, यदि तुझे आत्मा की ही इच्छा है तो तुझे धन्य है! अज्ञान में इच्छा होते हुए भी वह इच्छा अज्ञान की निवृत्तिका हेतु है। जैसे तू अपने शरीर और शरीर पर पहिने हुए कपड़े सहित सामान्यता से तू कहा जाता है ऐसे ही जीव के स्वरूप को समझ, जीव में रहे हुए दो अंश भ्रांति के होने से मिथ्या तुच्छ है, वास्तविक एक ही तत्त्व है, वह ही तेरा सच्चा स्वरूप है। शरीर एक कपड़ा रूप है, वह भी तू नहीं है तब तीसरा रहा जो जीव वह ही तू है ऐसे ही जीव के स्वरूप में भी समझ। अज्ञान-भूल और विकृति तू नहीं है, वही तत्त्व तेरा सच्चा स्वरूप

है परन्तु जब तक अज्ञान का भान रहता है तब तक सच्चे स्वरूप पर निश्चय नहीं होता ! तेरे प्रश्न का यह उत्तर हुआ कि अज्ञान से जड़ चेतन की ग्रन्थि रूप जीव है और वस्तुतः शुद्धात्मा ब्रह्म है ।

जिसको जीव कहते हैं उसका स्वरूप इस प्रकार है:—अल्पज्ञ है, अल्प शक्ति वाला है, बहुत है, पराधीन है, असमर्थ है, अपरोक्ष और अविद्या की उपाधि वाला है । अवस्था भेद से जीव के देश नेत्र, कंठ और हृदय है । जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीन कला हैं, स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन जीव की वस्तुयें यानी भोग सामग्री हैं । जीवपने की अवस्थाओं के अभिमानी विश्व, तैजस और प्राज्ञ हैं । जाग्रत से लेकर मोक्ष पर्यन्त जीव का भोग है, यह व्यवहारी जीव है । विचार दृष्टि से देखा जाय तो जितने गुण उसमें कहे हैं वे सब अज्ञान—उपाधि के हैं । और अज्ञान-उपाधि में ही उनकी प्रतीति है । जीव का शुद्ध स्वरूप परब्रह्म है, परब्रह्म और इस जीव के तत्त्व में किंचित् फरक नहीं है, जीव की ईश्वर अथवा परब्रह्म से जो विलक्षणता है, वह सब विलक्षणता उपाधि की है, तत्त्व की नहीं है । अज्ञान—उपाधि को जीव तत्त्व में मानता है, इसीसे जीव भाव है और जन्म मरण आदिक अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं । यद्यपि अज्ञान मिथ्या है तो भी अज्ञानियों को सच्चे रूप से उसका फल होता है, मिथ्या का नहीं । जो तू उपाधि को हटा कर अपने को समझे तो जीव के परिच्छिन्न आदि जितने गुण हैं, सब निवृत्त होजांय, जिस प्रकार शंख के कीड़े का घर शंख है इसी

प्रकार जीव का यह स्थूल आदि शरीर घर है। शंख का घर से इस प्रकार का संबंध है कि उस संबंध के टूटते ही कीड़ा मर जाता है इसी प्रकार अज्ञान के कारण जीव का शरीर से संबंध है और शरीर के मृत्यु से वह अपना मृत्यु समझता है। जैसे शंख की उत्पत्ति कीड़े से है इसी प्रकार जड़ चेतन की ग्रन्थि रूप जीव से ही शरीर की उत्पत्ति है। जीव उस शरीर में मोह को प्राप्त होकर कष्ट उठाता है। जो जीव के यथार्थ स्वरूप को जान जाता है, वह जीव भाव से निवृत्त होकर अपने आद्य स्वरूप को प्राप्त होता है। जब तक जीव का स्वरूप नहीं जाना जाता तब तक परब्रह्म का स्वरूप भी नहीं ज़ाना जाता और संसार की निवृत्ति भी नहीं होती।

एक हज्जाम बहुत निर्धन था, उसकी स्त्री हमेशा कलह किया करती थी। हज्जाम उसे बहुत समझाता परन्तु वह न मानती और अच्छे २ वस्त्र, भोजन और दागीने मांगा करती, हज्जाम के पास वे थे नहीं इसलिये कलह दिन पर दिन बढ़ता गया। अन्त में हार कर हज्जाम घर छोड़कर जंगल की तरफ चल पड़ा। चलते २ वह थक गया, रात्रि हो गई, ग्राम वहां से दूर था इसलिये उसने एक वृक्षके नीचे विश्रांति ली और बैठा २ अपने दुःख का विचार करने लगा। विचारते २ एक पहर रात्रि व्यतीत हो गई। उस वृक्ष पर एक प्रेत रहता था, हज्जाम को देखकर वह जी में सोचने लगा "आज़ आनन्द होगा, भोजन के लिये मुझे घूमना नहीं पड़ेगा, उस हज्जामका भक्षण करने से ही मेरी तृप्ति हो जायगी!" प्रकट होकर बोला "हे हज्जाम! मैं

तुझे मार कर खाऊँगा, मरने के लिये तैयार होजा !" प्रेत की प्रचंड विशाल मूर्ति देखकर हज्जाम कांपने लगा ! तुरन्त ही उसे कुछ याद आ गई ! पेटी में से एक आईना निकाल कर उसने प्रेतके मुखके सामने धरा और कहने लगा "अरे ! ओ अधम ! तू मेरे ही साथ इस प्रकार की छल विद्या करने को तैयार है क्या तुझे शर्म नहीं आती ? मैंने इस पेटी में कितने ही प्रेतों को बन्द कर रक्खा है ! जा ! अधम ! पिशाच ! मेरे सामने से ! अपनी बद सूरत आकृति को लेकर चला जा ! तू कितना गँवार है ! कितना मूर्ख है ! अपने आप बन्दीखाने में पड़ने को मेरे पास आया है ! जा ! जल्दी से चला जा !" प्रेत हज्जाम के दिखाये हुए आईने में अपने ही विकराल प्रतिबिम्ब को कोई दूसरा प्रेत मेरी हत्या करने को तैयार है' ऐसा समझकर अत्यंत भय से कांपने लगा और विचारने लगा "यह हज्जाम कितना बलिष्ट है ! इसने अपनी पेटी में मेरे समान कितने प्रेतों को बंद कर रक्खा है ! यद्यपि यह मनुष्य है तो भी उसने किसी प्रकार की विद्या अवश्य सिद्ध की है ! इसके सिवाय अन्य किसी से ऐसा महान् कार्य हो नहीं सक्ता ! सचमुच ! यह कोई विचित्र मनुष्य है ! इसके साथ विशेष बोल चाल और जबरदस्ती करने से शुभ फल नहीं होगा !" प्रेत को नम्र हुआ देखकर हज्जाम प्रसन्न होकर अधिक भय दिखलाने के उद्देश से बोला "अरे ! ओ अधम पिशाच ! मुझे तुझ पर दया आती है ! नहीं तो मैं तुझे मारने को अभी समर्थ हूँ, मैंने अपनी पेटी में तुझ जैसे और तुझसे भी बहुत बहुत बलिष्ट सैकड़ों प्रेतों को बन्द कर रक्खा है, यदि मैं उन्हें तेरे ऊपर छोड़ दूं तो वे अभी तेरी

बोटी २ उड़ा दें, उनको भोजन देने की इच्छा से ही मैं इस जंगल में आया हूं! बोल! अब मरने में तुझे क्या विलम्ब है? यदि तू कहे तो मैं अपनी पेटी के प्रेतों को तेरे ऊपर छोड़ दूँ और वे तुझे मार कर खाजांय!" हज्जाम की इस प्रकार की वाणी सुन कर प्रेत आश्चर्य में पड़ा! थोड़ी देर तक स्तब्ध रहा और फिर इस प्रकार विनती करने लगा "हे महाशय! अब मैं आपके साथ कभी ऐसा वर्ताव न करूंगा, मेरे कहे हुए वचनों की कृपा करके मुझे माफी दीजिये, मैंने आपके साथ घमंड युक्त वचन कहने में बड़ी भारी भूल की है! अब मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि ऐसी भूल कभी न करूंगा! मेरे किये हुए अपराध को क्षमा कीजिये, मुझ पर दया कीजिये, यदि तुम मुझे प्रेतों का भोजन बनाओ तो तुम्हें अपने इष्ट की कसम है! मुझ पर क्रोधित मत हो!" प्रेत के इस प्रकार के वचन सुन कर हज्जाम के हर्ष का पार न रहा! वह गर्व सहित बोला, तुझ जैसे भयंकर बदमाशों को माफी देना उचित नहीं है! मैं तुझे अपने प्रेतों से मरवा कर खिलाऊंगा! अभी मैं प्रेतों को बाहर निकालता हूँ, नमकहराम! तुझे क्षमा करना भयंकर पाप है! प्रेत हज्जाम के पैरों पर गिर पड़ा और बोला, मैं तुम्हारा किंकर हूं, मुझे माफी दो, आप जैसा कहोगे वैसा मैं करूंगा! हज्जाम बोला अच्छा! मैं तुझ से एक करार लेकर छोड़ना चाहता हूँ, बोल, क्या तुझे शर्त मंजूर है? प्रेत बोला महाशय! ऐसी आपकी कौनसी शर्त है, जिसे मैं कबूल नहीं कर सकता! आप जैसे कहेंगे, वैसे ही मैं वर्तूंगा! अपनी शर्त कहो! हज्जाम बोला, यदि तू एक सौ सोने की मोहरें मुझे

लादे और अन्न की भरी हुई एक कोठी मेरे आंगन में रख आवे तो तुझे छोड़ सकता हूँ ! बोल, कबूल है ? प्रेत बोला, जी हां ! मैं आपकी शर्त बहुत खुशी से पूरी करूंगा ! आप इसकी चिन्ता न करें, आप कहें तो अभी जाकर सोने की मोहरें लिये आता हूं ! हज्जाम बोला, जा, जल्दी जा, यदि तुझे आने में देर हुई तो अपने प्रेतों को तेरे ऊपर छोड़ दूंगा ! प्रेत बोला, नहीं, महाशय ! मेरे आने में विलम्ब न होगा । मैं अभी आपकी सेवा में हाजिर होता हूं । हज्जाम बोला, अच्छा जा, जल्दी लेकर आ ।

थोड़ी देर में प्रेत सुवर्ण की मोहरों की थैली ले कर आ पहुँचा और हज्जाम को दे कर बोला; लीजिये महाशय । हज्जाम ने सुवर्ण मुद्रा गिनी तो पूरी सौ हुई । प्रेत बोला, आप के कहे अनुसार सौ मोहरें तो आप को मिल गईं, अब आप अपने घर जाइये, प्रातःकाल उठ कर तुम्हारे आंगन में देखने से तुम्हें अन्न की भरी हुई कोठी मिल जायगी, इसमें आप किंचित् भी संदेह न कीजिये, मैं अपना करार पूरा करने में कभी चूक न करूंगा मेरी बात का निश्चय रक्खो । हज्जाम बोला ठीक है यदि तू अन्न न रख जायगा तो तेरी खबर भी ली जायगी अब मैं जाता हूँ । यह कह सुवर्ण की मोहरों की थैली ले कर हज्जाम प्रसन्न होता हुआ अपने घर की तरफ चल दिया । हज्जाम को प्रेत के साथ युक्ति लड़ाने में सारी रात बीत गई थी । वह सुबह नौ बजे अंदाज घर पर पहुंचा और हज्जामिन को सुवर्ण मुद्रा की थैली खोल कर दिखलाता हुआ बोला, देख ! मैं आज कितना

धन ले आया हूँ अब हमारा निर्वाह सुखपूर्वक होगा। हज्जा-
मिन बहुत प्रसन्न हुई।

हज्जाम की दमपट्टी में आया हुआ प्रेत अन्न से भरी हुई
कोठी हज्जाम के घर पर रखने रात्रि में जा रहा था। मार्ग में
उसे उसका मामा मिला और पूछने लगा "इतना अन्न ले कर तू
कहां जा रहा है ? किस को देने जाता है ?" भानजा बोला "कल
मुझे एक हज्जाम मिला था, वह मेरा नाश करने को तैयार था !
उसके पास बहुत से प्रेत बन्द थे वह उनको मेरे उपर छोड़ना
चाहता था, यदि छोड़ देता तो वे मुझे हजम करजाते ! जब मैं
ने अन्न देने का करार किया तब छुटा हूँ, इसलिये उसे अन्न
पहुँचाने जा रहा हूँ। मामा हंस कर बोला रे पागल ! तेरे
समान कौन मूर्ख होगा ? तू धूर्त हज्जाम से ठग गया ! मनुष्य
हो कर प्रेत को कैद कर दे, यह बात असंभव है चल, मैं तेरे
साथ चलता हूँ, बेटाजीको उसकी बदमाशीका फल चखाना चाहिये।
दोनों प्रेत अन्न को मार्गमें एक स्थानपर रखकर हज्जामके घर पहुँचे
और चीख लगाई। हज्जाम बाहर आया, अब कैसे बचूँगा, यह
विचारते हुए वह अपनी थैली में से आईना निकाल कर दोनों
के सामने रख कर बोला, अरे ! नीच और बदमाश प्रेतो ! तुम
को मेरे साथ चालबाजी करने में जरा सा भी भय न लगा ! इन
अपने प्रेतों से मैं तुम्हारा नाश कराऊंगा ! नादानो ! मरने को
तैयार हो जाओ ! प्रेत का मामा यह दृश्य देख कर कांपने लगा
और चुप हो गया। हज्जाम ने उसकी गरदन पकड़ली। वह
छोड़ने की विनती करने लगा। हज्जाम ने उससे भी सुवर्ण मुद्रा

और अन्न की एक कोठी देने को कबूल कराया। दोनों अन्न और सौ सुवर्ण की मुद्रा ले आये। हज्जाम ने उनके शिर के बालों को लेकर अपने पास रख लिया। जब २ हज्जाम को जरूरत होती है तब २ बालों के जरिये से प्रेतों को बुला लेता है और अपना कार्य करा लेता है। इस प्रकार आज तक वे हज्जाम के किंकर बने हुए हैं।

प्रेत सच्चे होते हैं या झूठे इससे हमको प्रयोजन नहीं है। ऊपर का दृष्टांत यह समझने के लिये है:—प्रेत सामर्थ्यवान होने से आत्मा समझो, हज्जाम चालबाजी वाला अज्ञान—माया है। आईना उसकी विकृति है यानी अज्ञान का कार्य रूप—अज्ञान से बना हुआ सतोगुणी होने से निर्मल अंतःकरण आईना है, उसमें प्रेत रूप आत्मा के प्रतिबिम्ब से आत्मा भय को प्राप्त हो कर अपने ही प्रतिबिम्ब को दूसरा समझ कर अपनी रक्षा का यत्न करने लगा है और उस यत्न में अज्ञान रूप हज्जाम का हमेशा के लिये किंकर बना है। इसी प्रकार जीव का स्वरूप समझना चाहिये। प्रेत का मामा कुछ सामर्थ्य वाला मालूम हुआ परन्तु अज्ञान के सामने जाते ही वह भी किंकर बन गया। इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्न दो अवस्थाओं में जीव माया का दास रहता है और तीसरी कारण अवस्था तो दासत्व रहित होने पर भी अज्ञान में दबी हुई है।

मनुष्यः—आपके समझाने से मैं जीव को समझ गया हूं परन्तु अन्य शास्त्रों में जीव के स्वरूप में भिन्नता किस कारण

है ? और किस प्रकार की है ? संत:—पांचों शास्त्र में छःठा वेदान्त शास्त्र अन्तिम है इसलिये समझने वाले की बुद्धि के अनुसार अंतर मालूम होता है। वेदान्त में दिखाई हुई जीव की प्रक्रिया अंतिम है और मुमुक्षुओं को ग्रहण करने योग्य है। अन्य पांचों शास्त्रों की व्याख्या कर्म और उपासना वालों के निमित्त है। पूर्व मीमांसा वाले जीव को जड़ और चेतन दोनों प्रकार के स्वरूप वाला, विभु, बहुत और कर्ता भोक्ता मानते हैं। वैशेषिक और न्याय वाले जीव को ज्ञानादि चौदह गुण वाला कर्ता भोक्ता मानते हैं, यह चौदह गुण इस प्रकार हैं :—सुख, दुःख, ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, ज्ञान के संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग और विभाग ! सांख्य वाले जीव को असंग चेतन, विभु, बहुत और भोक्ता मानते हैं जीव का स्वरूप जो मैंने तुझे समझाया है वह ही अंतिम और समझने योग्य है। प्रक्रिया भेद से विशिष्ट, उपहित का भेद होता है परन्तु दोनों प्रकार से स्वरूप में भेद नहीं है। यह सुन कर मनुष्य संतोष को प्राप्त हुआ।



ईश्वर।

मनुष्यः—आपने जो जीव का वर्णन कर के समझाया वह मेरी समझ में आ गया। जब जीव का स्वरूप इस प्रकार का है तब तो अब तक मैं महान् भूल में था। मैं अपने को जीव, अति तुच्छ और सुख दुःख का सहने वाला समझता था परन्तु आप के कहने से तो यह सिद्ध होता है कि जीव में सुख दुःख नहीं है, अज्ञान की उपाधि में हैं, अज्ञान से जीव उन्हें अपने में मानता है, अज्ञान की निवृत्ति से सुख दुःख की निवृत्ति हो जाती है। आपने जीव का शुद्ध स्वरूप परब्रह्म ही बतलाया तब ईश्वर का स्वरूप क्या है ? जीव से ईश्वर की विशेषता है। जब जीव ही ब्रह्म तत्त्व है तब ईश्वर ब्रह्म तत्त्व से विशेष क्या होगा ? ईश्वर भी ब्रह्म तत्त्व ही है तब जीव और ईश्वर तत्त्व में कोई अंतर ही न रहेगा·इसलिये आप ईश्वर का स्वरूप भी समझाइये। ईश्वर की विशेषता लोक में प्रसिद्ध है, ईश्वर सेव्य है जीव सेवक है। जीव का उपाधि युक्त मायिक शरीर देखने में आता है, क्या ईश्वर में भी मायिक उपाधि है ? और उसके उपाधि वाले स्वरूप को क्या कोई जान सक्ता है या नहीं ?

सन्तः—यदि तू जीव को पूर्ण रीति से समझ गया होगा तो ईश्वर का समझना कठिन नहीं है, यदि जीव को न समझा होगा तो ईश्वर का स्वरूप समझने में नहीं आवेगा। जब तक अज्ञान ठीक रीति से न हटे, अज्ञान का अभाव न हो तब तक

जीव के शुद्ध स्वरूप पर चित्त नहीं जमता । जीव को अशुद्ध उपाधि युक्त शरीर से वारंवार कर्ता भोक्ता का अभिमान हुआ करता है, जीव के शुद्ध तत्त्व में किंचित् उपाधि–उपाधि का योग और उपाधि कृत जन्म मरण, सुख दुःख है नहीं क्योंकि वह पर-ब्रह्म स्वरूप है। ऐसे ही ईश्वर का जो शुद्ध तत्त्व है वह भी ब्रह्म तत्त्व है। जीव के शुद्ध स्वरूप में और ईश्वर के शुद्ध स्वरूप में किंचित् भी अन्तर नहीं है दोनों एकही हैं। जीव से ईश्वर की विशेषता जो जगत् में प्रकट है वह शुद्ध तत्त्व की विशेषता से नहीं है, जीव की उपाधि और ईश्वर की उपाधि में अंतर है। जीव की उपाधि मलिन और तुच्छ है, ईश्वर की उपाधि शुद्ध और महान् हैं। उपाधि में ईश्वर की जीव से विशेषता है, उपाधि युक्त ईश्वर उपाधि युक्त जीव का उपास्य है और ईश्वर का जीव उपासक है। उपास्य और उपासक उपाधि में है, अज्ञानता में रहा हुआ जीव माया की महान् उपाधि वाले ईश्वर की उपासना करता है, जीव का शुद्ध तत्त्व किसी की उपासना नहीं करता क्योंकि जिस शुद्ध तत्त्व की उपासना करे वह स्वयं ही है और जीव के शुद्ध तत्त्व से ईश्वर की मायिक महान्ता वाली उपाधि की उपासना होती ही नहीं। जीव का शुद्ध तत्त्व कृतार्थ रूप है और उपास्य उपासक भाव से रहित है। जीव के समान ईश्वर के भी स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर हैं। यद्यपि वे महान् हैं तो भी समष्टि रूप से जाने जाते हैं, ईश्वर की उपाधि के भीतर ही जीव की उपाधि है। प्रत्येक भिन्न २ जीव व्यष्टि रूप है, सब ब्रह्मांड की व्यष्टियों को एक समझना यह समष्टि है। सब ब्रह्मांड के स्थूल शरीर जिस

एक में रहे हुए हैं, ऐसा एक शरीर ईश्वर का स्थूल शरीर है, इसी प्रकार सब ब्रह्मांड की व्यष्टियों के जो सूक्ष्म शरीर हैं उन सब शरीरों युक्त जो एक शरीर है, वह ईश्वर का सूक्ष्म शरीर है, ऐसे ही सब व्यष्टियों के जो कारण शरीर हैं, वे सब मिल कर जो एक शरीर है, वह ईश्वर का कारण शरीर है, इस प्रकार ईश्वर के शरीर को जीव जान सकता है। अल्प महान् को सर्वांश से तो जान नहीं सकता, एक अंश के प्रत्यक्ष से सर्वांश का अनुमान कर सकता है। जीव की उपाधि और ईश्वर की उपाधि दोनों ही माया कृत हैं परन्तु शुद्ध अशुद्ध भेद से उपाधियों में भेद है। ईश्वर की माया उपाधि ईश्वर के स्वाधीन है, जीव की अविद्या उपाधि में जीव परवश है इसलिये जीव को अज्ञान निवृत्त करने की आवश्यकता है। ईश्वर की माया ईश्वर को बाधक नहीं है, इसलिये उपाधि वाले उसे उपाधि युक्त समझें तो भी वह सदा मुक्त है। जीव भाव राग द्वेष और अनेक प्रकार के दुःखों से युक्त है क्योंकि जीव भाव द्वैत में है, जीव के सामने अन्य जीव है और इसलिये उसको किसी से राग, किसी से द्वेष और किसी से सुख दुःख होता है। ईश्वर एक है, ईश्वर के सामने अन्य नहीं है—द्वैत नहीं है इसलिये राग द्वेष किस में हो। दूसरे से सुख दुःख होता है, ईश्वर के सामने दूसरा है नहीं, इसलिये उसमें सुख दुःख नहीं है। ईश्वर मुक्त और आप्तकाम है, वह किसकी इच्छा करे। यदि कोई कहे कि ईश्वर के सामने जीव है, उससे राग द्वेष करे तो वह ईश्वर का स्वरूप नहीं जानता। सब जीवों का एक स्वरूप ईश्वर है तब ईश्वर

से भिन्न जीव कहां रहा ! ईश्वर का कोई मित्र, शत्रु, जाति, पर जाति नहीं है। ईश्वर का शुद्ध स्वरूप ब्रह्म है उसमें क्रिया, विकार, सृष्टि, असृष्टि, माया आदिक कोई नहीं है, ईश्वर का माया सहित जो स्वरूप है, वह जगत् की रचना, स्थिति और नाश करने वाला है तो भी ईश्वर अकर्ता है क्योंकि व्यष्टियों का समग्र भाव ही समष्टि में हेतु है, ईश्वर समष्टिमें होते हुए भी समष्टि के बंधकारक अभिमान से रहित है। ईश्वर के भिन्न २ नाम लोगों के समझने के निमित्त रक्खे गये हैं, ईश्वर ऐश्वर्य वाला होने से ईश्वर कहलाता है। ईश्वरका ऐश्वर्य जीवकी अल्पज्ञता–अल्प ऐश्वर्य आदिक की अपेक्षा से है। ईश्वर अपने ऐश्वर्य की तुलना अन्य किस से करे ? सब कुछ ऐश्वर्य होते हुए भी ईश्वर एक रूप है, भिन्न २ ऐश्वर्य का भिन्न २ प्रकार से उपयोग हो ऐसा ऐश्वर्य ईश्वर में नहीं है। ईश्वर में जो ऐश्वर्य है, उसका अनेक प्रकार का भाव भिन्नता, विशेषता, सब जीवों के समझने के लिये है, ईश्वर में जीव कृत भेद भाव का भाव ही नहीं है। इन सब कारणों से ईश्वर सदा मुक्त है, प्रथम अज्ञानी हो और प्रयत्न से ज्ञानी हुआ हो, ईश्वर ऐसा नहीं है। ईश्वर का अन्य कोई उपास्य नहीं है, ईश्वर को अपनी उपासना कराने की इच्छा नहीं है, ईश्वर भाव में न कोई उपास्य है न उपासक है। ये सब भाव जीवमें हैं, जीव ही अज्ञान भाव युक्त होने से दूसरे को विशेष समझकर उसकी उपासना करता है और अन्य से अपने को विशेष समझ कर उपासना कराता है, ईश्वर का समष्टि स्वरूप जीव के समझने के लिये है, वस्तुतः तो वह न समष्टि है, न व्यष्टि

है, अपनी महिमा में टिका हुआ है, वह ब्रह्म है। उसमें न भाव है न अभाव है, न भेद है, न अभेद है, कर्ता अकर्तापने से रहित है। वेदान्त में ईश्वर को सृष्टि का अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहा है। यह कहना जीव को यह बोध कराने के निमित्त है कि ब्रह्म अधिष्ठान में जगत् अध्यस्त है। वास्तविक ईश्वरमें न तो सृष्टि का उपादानपना है, न निमित्तपना है। जहां सृष्टि ही नहीं वहां निमित्त और उपादान कहां ?'

शुद्ध सतोगुण प्रधान माया उपाधि वाला जो ईश्वर का स्वरूप समझा जाता है वह इस प्रकार का है:—अव्याकृत माया ईश्वर का देश है। जिसमें व्यक्ति भाव की भिन्नता न हो वह अव्याकृत कहलाता है। माया की उपाधि से ईश्वर व्यापक है, इसलिये जो माया का देश है, वह ही ईश्वर का देश है। उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीन ईश्वर के काल हैं। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण ईश्वर की वस्तु है, इस वस्तु रूप सामग्री से ईश्वर सृष्टि की रचना करता है। जीव के शरीरों के अनुसार ईश्वर के भी स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन शरीर समझे जाते हैं, उन्हें क्रम से विराट, हिरण्यगर्भ और अव्याकृत कहते हैं। विराट के अभिमानी को वैश्वानर, हिरण्य-गर्भ के अभिमानी को सूत्रात्मा और अव्याकृत के अभिमानी को अन्तर्यामी कहते हैं। 'मैं एक हूँ; बहुत होऊं' ऐसी ईक्षण (विचार) की, वहां से लेकर जीव रूप से शरीर में प्रवेश किया, वहां तक की सृष्टि ईश्वर का कार्य है सर्वशक्तिमान्पना, सर्वज्ञता,

व्यापकता, एकता, स्वाधीनता, सामर्थ्यता परोक्षता और माया-कृत उपाधिपना ये आठ जो ईश्वर के धर्म हैं वे जीव की अपेक्षा से हैं, इन सबके साथ माया और उस में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब रूप चिदाभास और सब का अधिष्ठान ब्रह्म इन तीनों के संमिलित भाव को एक ईश्वर कहते हैं, उपाधि और उपाधिकृत सबको छोड़ कर तत्त्व रूप से जो ईश्वर तत्त्व है सो ब्रह्म है। जीव को अविद्या के कारण से ईश्वर उपाधि युक्त प्रतीत होता है।

जीव के समान ईश्वर का स्वरूप भी शास्त्रकारों ने भिन्न २ प्रकार से कथन किया है। अधिकारियों के भेद से और उपासना आदि में उपयोगी होने के लिये ऐसा कथन किया गया है, वस्तुतः तो ईश्वर ब्रह्म स्वरूप है किन्तु मुमुक्षुओं के लिये उपाधि युक्त और शुद्ध ईश्वर का वर्णन करना ही उपयोगी होता है। पूर्व मीमांसा वाले कर्म को ही ईश्वर मानते हैं क्योंकि ईश्वर तत्त्व कर्म करके प्राप्त किया जाता है। वैशेषिक और न्याय शास्त्र वाले नित्य इच्छा वाले, नित्य ज्ञानादि गुण वाले, विभु (व्यापक) कर्ता विशेष को ईश्वर कहते हैं। योग शास्त्र वाले क्लेश, कर्म, विपाक, आशय से असम्बद्ध पुरुष विशेष को ईश्वर मानते हैं। सांख्य शास्त्र वाले, अन्य जैसे ईश्वर को मानते हैं, ऐसे ईश्वर की असिद्धि दिखलाते हैं, सेश्वर और निरीश्वर दोनों प्रकार से कई विद्वान् सांख्य का कथन करते हैं। वेदान्त वाले माया विशिष्ट चेतन को ईश्वर कहते हैं और प्रक्रिया भेद से माया उपहित को भी ईश्वर कहते हैं। उपाधि युक्त ईश्वर के स्वरूप को अपरब्रह्म

अथवा कार्य ब्रह्म कहते हैं और उपाधि रहित को परब्रह्म अथवा कारण ब्रह्म कहते हैं कार्य ब्रह्म के उपासक यदि उपासना अहंग्रह हो तो कार्य ब्रह्म–ब्रह्म लोक को प्राप्त होते हैं और कारण अहंग्रह उपासना से परम पद को प्राप्त होते हैं। यदि ब्रह्म लोक के भोग आदिक का प्रतिबंध हो तो कारण ब्रह्म की उपासना करते हुए भी कार्य ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं। कार्य ब्रह्म सगुण है और कारण ब्रह्म निर्गुण है।

एक योगेश्वर अपने योगैश्वर्य से परिपूर्ण था, कृतकार्य हो चुका था, अकाय स्वरूप को प्राप्त हुआ था, अपने शुद्ध अहं भाव रूप अदृश्य व्यक्ति भावको रक्खे हुए था, जिसको संकल्प से सब में विचरने की सामर्थ्य थी, उसने एक समय अपने स्वरूप से उत्थान पा कर सैर करने का विचार किया। उसकी संपूर्ण अविद्या की निवृत्ति हो चुकी थी इसलिये उसके लिये संसार नहीं था, न दीखता था वह ईश्वर सृष्टि से परे हो चुका था उसने संकल्पको धारण करके ईश्वर सृष्टिका संयम किया। उसे ईश्वर सृष्टि प्रत्यक्ष दीखने लगी। वह साक्षी स्वरूप से सब ईश्वर सृष्टि को देखता था परन्तु स्वयं ईश्वर सृष्टि का न था। सब स्थानों में घूमता हुआ ग्रामों, नदियों, सागर को पार करता हुआ, वन उपवन और कुंजों में फिरता हुआ वह एक अत्यन्त शोभा वाले शहर के मुख्य द्वार पर आ पहुँचा। उस योगेश्वर ने नगर में प्रवेश किया। बड़े २ शोभा वाले मार्ग और उनमें आई हुई दिव्य २ इमारतों को देखता हुआ बाजार के भाग में आ पहुँचा।

बाजार पूर्ण लगा हुआ था, सब पदार्थ बेचने के लिये रक्खे हुए थे, बेचने वाले दुकानों के ऊपर और खरीदने वाले दुकानों के नीचे खड़े हुए थे। सब होते हुए भी चेष्टा रहित थे। योगेश्वर को आश्चर्य लगा! उसने लोगों को टटोल कर देखा तो वे पाषाण के समान जड़ थे। वहां से वह आगे बढ़ा तो राज भवन के पास हजारों सैनिकों को शस्त्र सजे खड़े हुए देखा परन्तु वे भी लकड़ी के ठूंठ के समान ही थे, कोई कुछ भी चेष्टा नहीं करता था। यह देखकर योगेश्वर विचारने लगा "बड़ा आश्चर्य है! किसी ने शाप देकर इन सबको चेष्टा रहित तो नहीं कर दिया है?" पास जाकर देखा तो वे सब मृत्यु को प्राप्त नहीं हुए थे। वहां से वह राजमहल में पहुँचा, वहां की शोभा देखी, सब दीवारें दूध के समान सफेद चमक रहीं थीं, आंगन दर्पण के समान निर्मल था। महालय को चारों तरफ से ध्वजा, पताका और अनेक प्रकार के रंगीन चित्रों से देदीप्यमान किया गया था। परन्तु जो कुछ खामी थी तो यह थी कि कोई चेष्टा नहीं करता था, बोलता न था। चौकीदार देवढ़ी पर खड़े थे परन्तु चेष्टा रहित! वहां सब स्थानों पर शांति का पूर्ण राज्य प्रवर्त हो रहा था। योगेश्वर वहां से चल कर चौगान में आया, वहां हाथी, घोड़े, भृत्य, सैनिक और पहरे दारों को चेष्टा रहित देखा। योगेश्वर ने यह विचार कर कि कदाचित भीतर होश वाले हों, एक संतरी के कान पर मुख रख कर कहा "तुम चुप चाप क्यों खड़े हो?" उसने कुछ उत्तर न दिया। योगेश्वर ने उसके शिर पर हाथ फेरा तो मालूम हुआ कि पत्थर के समान सख्त है। उसे विचार हुआ क्या

किसी तमाशेगीर ने सब पत्थर की मूर्तियां बना कर तो रख नहीं दी हैं ?" आश्चर्य युक्त महल पर चढ़ने लगा ! 'यह तमाशा क्या है ?' यह जानने की उसे तीव्र इच्छा थी परन्तु वहां जवाब देने वाला कोई भी न था ! महल में जा कर देखता है तो कमरे भिन्न २ प्रकार से सजे हुए हैं। एक स्थान पर अंतःपुर देखा। वहां रानी सोती हुई और दासियां खड़ी हुई देखीं। दूसरे कमरे में एक युवान सुन्दरी पलंग पर बैठी हुई थी। वह राज कन्या हो ऐसी दीखती थी। उसके पास कई सहेलियां भी थीं, कोई खड़ी और कोई कुछ काम कर रही हो, ऐसी मालूम होती थीं। योगेश्वर वहां से एक विशाल शोभा वाले मध्य भाग के कमरे में पहुंचा। वहां जटित सिंहासन पर राजा बैठा हुआ था, पास में दीवान कारभारी लोग थे। योगेश्वर यह देख ही रहा था कि राजा के नेत्र खुले, उसके साथ सब चेष्टा वाले हो गये ! जैसे किसी भारी पुतलीघर का स्टीम एनजिन चालू होते ही सब कल पुरजे अपनी २ चाल में चलने लगते हैं इसी प्रकार राजा को होश होते ही सब में होश आगया ! यह देखकर योगेश्वर विशेष आश्चर्य को प्राप्त हुआ ! योगेश्वर राजा को देख रहा था परन्तु राजा ने योगेश्वरको नहीं देखा था; तब योगेश्वरने संकल्प किया कि राजा मुझको देखे। राजा योगेश्वर को देख कर बोला "तुम कौन हो ? मेरे राज्यमें क्यों आये हो ? तुम मेरी प्रजा नहीं दीखते !" योगेश्वर ने कहा "मैं आपके प्रश्न का उत्तर पीछे से दूंगा ! मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि आप सब अभी तक चेष्टा रहित थे, तुम्हारे नेत्र खुलते ही सब चेष्टा करने लग गये ! इसका कारण क्या

है ?" राजा दिव्य दृष्टि से योगेश्वर को जान गया, प्रसन्न होते हुए अपने साथ बैठने का सत्कार किया और कहा, तुम योगेश्वर हो, तुम अपने योग प्रभाव से और मुझमें संयम करने से मेरी सृष्टि में आ उपस्थित हुए हो, तुम मेरी सृष्टि के न होने से सबको चेष्टा रहित देखते थे अपनी प्रजा और राज्य की सब वस्तुओं का जीवन आधार मैं हूँ और लौकिक भाव से कहूँ तो इस सृष्टि का ईश्वर मैं हूँ, मुझसे ही सबकी सब चेष्टा होती है। जब मैं जाग्रत् अवस्था में होता हूँ तब प्रत्येक का व्यहार जाग्रत् में होता है, जब मैं स्वप्न में होता हूँ, तब अपनी संस्कार सृष्टि के अनुसार प्रत्येक का स्वप्न व्यवहार होता है और जब मैं कारण अवस्था को प्राप्त होता हूं तब सब अज्ञान से युक्त मुझमें एकाकार होते हैं। तुमने मेरी जाग्रत् के पूर्व की जो अवस्था थी, वह मेरी और सबकी कारण अवस्था थी, यद्यपि कारण में भिन्नता नहीं होती तो भी तुम मेरी सृष्टि के न होने से कारण शरीर की भी सूक्ष्म भिन्नता को देख सकते थे। तुम व्यक्ति वाले होकर भी अज्ञान रहित थे इसलिये सूक्ष्म बीज रूप कारण अवस्था की भिन्नता को देख सके थे। योगेश्वर ने कहा, हे इस सृष्टि के ईश्वर ! जब तुम एक ही हो, जब तुम्हारी प्रजा और सब पदार्थ तुम्हारे ही रूप हैं तब वे तुम से पृथक् क्यों दीखते हैं ? और पृथक् दीखते हुए भी तुम पृथकता रहित किस प्रकार हो ? राजा बोला, तुम योगेश्वर होने से सब कुछ जानने को समर्थ हो ! तो भी पूछने से कहता हूँ कि सब राज्य, प्रजा और पदार्थ मेरा ही स्वरूप है, मैं भी तुम्हारे समान एक योगेश्वर हूं, तुम में और मुझमें किंचित् अन्तर है, वह यह है कि तुम

अज्ञान को छोड़ कर योगेश्वर हुए हो और मैं स्वभाव सिद्ध योगेश्वर हूँ इसलिये ईश्वर कहलाता हूँ। इस स्थान पर प्रकृति का राज्य परंपरा से चला आया है, इसलिये यह राज्य अनादि कहा जाता है। एक समय जब प्रजा बढ़ गई और आपस में कलह करने लगी तब सब सज्जनों ने मिलकर कलह निवृत्ति का उपाय रूप मेरा भाव किया और सबके तेज को एकत्रित करके और मुझको व्यक्ति मान कर राज्य पर आरूढ़ किया। सबने मेरा आधिपत्य स्वीकार किया। उन सब लोगों का समष्टि तेज रूप मैं हूँ इसी लिये मेरी समष्टि रूप क्रिया चालू होते ही सबकी व्यक्ति रूप भिन्न २ क्रिया चालू हो जाती है। मैं उनकी व्यक्ति भाव को क्रिया के अनुसार उनको फल देता हूँ। कर्मों के अनुसार फल देने वाला होने से मैं कर्ताभाव से रहित हूँ। मैं जो सबका प्रेरक-प्रेरणा -करने वाला हूं, वह भी सामान्य ही हूं क्योंकि मैं किसी का प्यारा अथवा द्वेषी नहीं हूँ। योगेश्वर बोला, वाह! तब तुम सब सामर्थ्य वाले कैसे? राजा ने कहा, जब अल्प सामर्थ्यों का ढेर हो जाता है तब सब सामर्थ्य हो जाती है। मेरा जो व्यक्ति रूप है, वह तो उन लोगों का समग्र भाव रूप ही है क्योंकि मेरा कोई पृथक् भाव नहीं है इसलिये मेरा व्यक्ति स्वरूप भी नहीं है! दूसरे प्रकार से सुनो:—मैं स्वयं ब्रह्म स्वरूप हूँ, पूर्व कल्प के जीवों के कर्म भाव मुझमें ठोकर खाते हैं, जितने भाव में ठोकर खाते हैं, उतनों का भाव वाला होकर मैं एक से अनेक होने की इच्छा करता हूँ, सब रचना करता हूं, और प्रवेश को प्राप्त होता हूँ। मैं जो एक से अनेक

होकर विशेष चेष्टा वाला होता हूँ, वह विशेष चेष्टा मेरी नहीं है किन्तु जीवों के पूर्व कर्म के अनुसार ही है। सब कुछ करते हुए भी मैं अपने शुद्ध भाव से विचलित नहीं होता। ये सब व्यक्तियां अज्ञानसे अहं मम भाव वाली हैं इसलिये सुखी दुखी और जन्म मरण वाली है, शुद्ध स्वरूप में कोई भी विकार नहीं है। ऐसा होने से उन लोगों का शुद्ध स्वरूप मेरे शुद्ध स्वरूप से भिन्न नहीं है। अविद्या के कारण वे अपने स्वरूप को भिन्न समझ कर दुखी होते हैं। मैं एक से अनेक होने की इच्छा करता हूँ, अनेक भाव में प्रविष्ट होता हूं तोभी मेरी स्वयं इच्छा नहीं होती, सबके कर्म का फल भोग होने का विकास रूप होती है इसलिये मुझ को अज्ञान-बंधन कुछ नहीं है। उन लोगों की दृष्टि में मैं उपाधि युक्त हूँ तो भी अपने स्वरूप से तो मैं अविकारी ही हूँ योगेश्वर ने कहा तुम दीखते तो राजा हो किंतु राजा नहीं हो, ईश्वर हो ईश्वर ने कहा सच ऐसा ही है. मेरे उपाधि रहित स्वरूप को न जानने वाले, मुझे ऐश्वर्य वाला जान कर ईश्वर कहते हैं। मैं जैसे ईश्वर की उपाधि युक्त ईश्वर हूँ ऐसे ही तुम योग की उपाधि युक्त योगेश्वर हो, वस्तुतः हम दोनों एक ही हैं! मैं भी तुम को देख कर आश्चर्यवान् हूँ ईश्वर एक ही है, उसकी सृष्टिके बाहर कोई है नहीं ईश्वरके समान सामर्थ्य वाला भी और कोई नहीं है और मैं तुमको प्रत्यक्ष सामर्थ्य वाला दीखता हूँ। जब हम सब सो रहे थे तब तुम न सोकर हमको देखते थे इसलिये तुम हमारी सृष्टि के बाहर के हो! योगेश्वर ने कहा आपको ऐसी शंका करना युक्त नहीं है! जो तुम हो सो मैं हूँ! मैं तुम्हारी सृष्टि का नहीं हूँ परंतु

तुम्हारी सृष्टि तब ही देख सक्ता हूँ जब मैंने तुम्हारी सृष्टि का संयम किया है। मैं कृतकृत्य हूँ। संपूर्ण अज्ञान और उपाधि से मुक्त हूँ और मुक्त भी विचरता हूँ। जब तुमने नेत्र खोले तब और उससे प्रथम मैं तुमको और तुम्हारी सृष्टि को तटस्थ रह कर देखता था। जब तुम मुझको न देख सके तब मैंने ऐसा संकल्प किया कि तुम मुझको देख सको तब तुमने मुझको देखा और बात चीत की। आश्चर्य क्या? माया स्वयं ही आश्चर्य रूप है, उसमें जितना आश्चर्य हो उतना थोड़ा ही है। ऐसा कह कर योगेश्वर ने प्रसन्नता पूर्वक ईश्वर से विदा होते ही अपने संकल्प को समेट लिया और अदृश्य हो गया।

जैसा ऊपर के दृष्टांत में दिखाया है, ऐसा ईश्वर को समझना चाहिये। ऊपर की गाथा ईश्वर के समझने में मदद रूप है जीवों को समझने के लिये वह ईश्वर है वस्तुतः ब्रह्म है। जब जीव अज्ञान को निवृत्त करता है तब जीव ईश्वर उपाधि को प्राप्त नहीं होता किन्तु ब्रह्म स्वरूप हो जाता है क्योंकि जीव को ईश्वर की आधीनता तब तक ही है जब तक जीव में अज्ञान का व्यक्ति भाव है। जब जीव में से अज्ञान निवृत्त हो जाता है तब ईश्वर का शुद्ध स्वरूप ब्रह्म ही शेष रहता है, ईश्वर नहीं। ईश्वर कृत जगत् और जगत् का व्यवहार जीव को बन्धन करने वाला नहीं है इसलिये जीव को उसके छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। समष्टि अज्ञान अज्ञान नहीं है, व्यष्टि अज्ञान ही अज्ञान है। इसके निवृत्त होते ही जीव कृतार्थ हो जाता है। जब तक अज्ञान में है तब तक निर्मल कर्म और उपासना के निमित्त ईश्वर है।

उपासक को उपासना का फलदाता ईश्वर है, मोक्ष स्वयं सिद्ध होने से उपाधि युक्त ईश्वर मोक्ष का दाता नहीं है। अनेक उपासकों को सब प्रकार के वरदान दिये गये हैं परन्तु मोक्ष का वरदान आज तक किसी को नहीं मिला।

गूलर का फल जब कच्चा होता है तब फटा हुआ नहीं होता। उस फल में अनंत जीव होते हैं। जब वे बढ़ जाते हैं और बाहर की हवा लगने का संयोग आ जाता है तब उन सबकी वृद्धि से फल फट जाता है। ऐसे गूलर का फल रूप यह ब्रह्मांड है, प्रलय रूप गूलर का कच्चा फल है। प्रलय में जीव भिन्नता से नहीं दीखते। प्रलय के बाद जब सब सृष्टि के जीव फल भोगने के लिये तैयार हो जाते हैं तब गूलर का फल रूप ब्रह्मांड फट जाता है। वह ही ईश्वर का ईक्षण है। एक से बहुत होना ही फटना रूप है। यह ही अनेक जीव सृष्टि का आरंभ है। अब विचारना चाहिये कि जैसे गूलर के फल का फटना फल से नहीं होता इसी प्रकार ईश्वर का ईक्षण ईश्वर की तरफ से नहीं होता। सब जीव मिलकर एक फल रूप हैं, फल में जीव और जीवों का भोजन है। इसी प्रकार ईश्वर को गूलर का फल समझो। न फटे हुए फल की अवस्था ईश्वर की अप्रकट अवस्था है और फटे हुए फल की अवस्था ईश्वर और सृष्टि की प्रकट रूप अवस्था है। ऐसा होने से ईश्वर विकारी नहीं है क्योंकि फल का बढ़ना और घटना फल से होता है तो भी जीवों की वृद्धि ही फटने में कारण है। जैसे समग्र जीवों का भोग रूप फल है ऐसे ही ईश्वर सृष्टि का है। ईश्वर और ब्रह्म का अभेद है, उपाधि दृष्टि वाला ईश्वर तत्त्व

को समझ नहीं सक्ता उसके लिये ईश्वर का सगुण उपाधि वाला स्वरूप है और इससे भी मन्द बुद्धि वालों के समझने में सुगम हो इसलिये शास्त्रकारोंने अवतारादिककी रचना की है। मंद बुद्धि वालों का अवतारादिक की कथा आदि पढ़ने और भक्ति उपासना आदिक से कुछ न कुछ हित ही होता है।

जैसे कोई सूत्रधार अनेक प्रकार के तमाशे करता कराता है किन्तु तमाशे की विचित्र प्रकार की चेष्टा करता हुआ भी तमाशे के पदार्थों और प्रसंगों से हर्ष शोक को प्राप्त नहीं होता इसी प्रकार महा सूत्रधार ईश्वर को समझना चाहिये। सब उसी से, उसी की सत्तासे होता हुआ भी वह सबमें होता हुआ सबसे भिन्न है। जो अध्यस्त और अधिष्ठानको समझ सक्ता है उसकी समझमें यह जल्दी से आ जाता है कि ईश्वर मिला हुआ भी असंग किस प्रकार है। अध्यस्त की अनेक विचित्रता अधिष्ठान को कभी भी दूषित नहीं कर सक्ती। अथवा एक जादूगर और जादूगर की टोकरी के समान ईश्वर और उपाधि को समझो। जादूगर के हाथ में टोकरी होते हुए भी जादूगर और टोकरी जैसे भिन्न हैं ऐसे ही ईश्वर का सत् स्वरूप और उपाधि भिन्न हैं। जादूगर अपनी टोकरी में से अपनी सत्ता से अनेक पदार्थ बाहर निकालता है, दिखलाता है और तमाशा समाप्त होते ही सबको टोकरी में भर देता है; इसी प्रकार ईश्वर उपाधि से सृष्टिकी रचना करता है और प्रलय काल में उपाधि रूप टोकरी में सबको एक कर बन्द कर

देता है। जो ईश्वर की जिस प्रकार-जिस भाव से और जितनी एकाग्रता से उपासना करता है उसी के ज्ञान के अनुसार ईश्वर से फल प्राप्त होता है। ईश्वर से फल प्राप्त होने में भी जीव के ज्ञान, कर्म और भाव ही हेतु हैं। इसलिये ईश्वर कर्ता नहीं होता। जो अपने शुद्ध आत्मा को समझता है, जो ईश्वर के शुद्ध तत्त्व को समझता है और सद्गुरु द्वारा तत्त्वमसि आदि महा वाक्य के उपदेश से एकत्व का अविचल निश्चय करता है, वह मुक्त होता है।



अज्ञान ।

अज्ञानादि जड़ समूह अचेतन स्वरूप कहलाता है उसीको प्रकृति, माया और अविद्या कहते हैं। अब विचारना चाहिये कि उसका स्वरूप, लक्षण और परिणाम किस प्रकार है। माया त्रिगुणात्मक अर्थात् सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण रूप है। वह कारण रूप है उसका कार्य जगत् है। जगत् में सुख, दुःख और मोह प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं। सुख सतोगुण का, दुःख रजोगुण का और मोह तमोगुण का परिणाम रूप है। कारण के समान कार्य होता है। कारण तीन गुणों वाला है इसलिये कार्य भी तीन गुणों वाला है। कार्य में तीन गुण प्रत्यक्ष होने से कारण में भी तीन गुण होने का अनुमान होता है।

जो सत्य असत्य दोनों पदार्थों से विलक्षण हो वह माया यानी अज्ञान है। अर्थात् सत्य अथवा असत्य किसी रूप से जिसका वर्णन न हो सके वह अज्ञान कहलाता है। यदि अज्ञान को सत्य मान लिया जाय, तो जैसा सत्य ब्रह्म है ऐसा सत्य अज्ञान होने से ब्रह्म के समान अज्ञान का नाश कभी न होवे परन्तु अज्ञान का नाश होजाता है इसलिये उसे सत्य नहीं कह सकते यदि अज्ञानको असत्य माना जाय तो वंध्या पुत्र के समान उसका प्रत्यक्ष न होना चाहिये परन्तु अज्ञान तो "मैं ब्रह्म नहीं हूँ" इस प्रकार अनुभवका विषय मालूम होता है इसलिये उसे असत्य भी नहीं कह सकते। इस हेतु से ही अज्ञान को अनिर्वचनीय

कहा है। सत्य अथवा असत्य किसी प्रकार से जो न कहा जाय वह अनिर्वचनीय है। सत्य और असत्य दोनों एक कालमें अथवा एक स्थान में नहीं रह सकते इसलिये सत्यासत्य अथवा किसी और प्रकार से भी नहीं कह सकते इसीसे अनिर्वचनीय है।

"मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूँ" इस प्रकार के अज्ञान का संबंध सबको प्रत्यक्ष होता है। यह अज्ञान का प्रत्यक्ष प्रमाण है। श्रुति और स्मृति भी इसमें प्रमाण रूप हैं। श्रुति में कहा है:—"काल, स्वभाव आदिक कारणों में अनेक प्रकार का दोष देख करके ब्रह्म में ध्यान परायण, ब्रह्म वेत्ता पुरुष जगत् की कारण रूप देवात्मा शक्ति को देखने लगा यह अज्ञान रूप शक्ति सत्वादि अपने गुणों से ढकी हुई है।" गीता स्मृति में भी कहा है:—जिस जीव का ज्ञान अज्ञान करके आवृत्त है वह जीव अज्ञान कृत आवरण से संसार को प्राप्त होता है और जिस जीव का अज्ञान गुरु और शास्त्र के प्रसाद से उत्पन्न हुए ज्ञान से निवृत्त होजाता है, उसको "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा ज्ञान प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म का प्रकाश करता है" इस प्रकार अज्ञान ब्रह्म स्वरूप का आवरण करने वाला कहा है। आवरण करने वाला पदार्थ भावरूप होता है, अभावरूप नहीं होता। अचेतन रथादिक की प्रवृत्ति चेतन के अधीन देखने में आती है इस कारण अज्ञान भी स्वतंत्र प्रवर्त नहीं होता।

अज्ञान माया और अविद्या के भेद से दो प्रकार का है। शुद्ध सत्वगुण की विशेषता वाला अज्ञान माया और मलिन सत्वगुण की विशेषता वाला अविद्या कहलाता है। जब सत्वगुण रजोगुण

और तमोगुण से तिरस्कार प्राप्त-दवा हुआ नहीं होता तब सत्व-गुण शुद्ध कहलाता है और जब वह रजोगुण और तमोगुण से तिरस्कार को प्राप्त-दवा हुआ होता है तब वह मलिन कहलाता है। इस प्रकार एक ही अज्ञान सत्वगुण की शुद्धि से माया रूप और उसकी मलिनता से अविद्या रूप होता है। श्रुति में कहा है:—"एक ही अज्ञान मायारूप और अविद्या रूप होता है। माया और अविद्या इस प्रकार की उपाधियों करके एक ही चैतन्य ईश्वर और जीव दो भेद करके दो प्रकार का होता है। माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर और अविद्या में प्रतिबिम्बित जीव कहलाता है। "अज्ञान अपने भास से ईश्वर और जीव दो रूप होता है।" कोई माया और अविद्या का वर्णन इस प्रकार भी करते हैं:—अज्ञान की दो शक्तियां हैं एक ज्ञान शक्ति और दूसरी क्रिया शक्ति। कारण में कार्य को उत्पन्न करने की जो सामर्थ्य रहती है, उसे शक्ति कहते हैं। उनमें ज्ञान उत्पन्न करने वाली शक्ति ज्ञान शक्ति और क्रिया उत्पन्न करने वाली शक्ति क्रिया शक्ति है। रजोगुण और तमोगुण से अभिभव को न प्राप्त हुआ (न दवा) सतोगुण ज्ञान शक्ति और सतोगुण से अभिभव को प्राप्त न हुए (न दवे) रजोगुण और तमोगुण क्रिया शक्ति हैं। क्रिया शक्ति भी दो प्रकार की है एक आवरण शक्ति और दूसरी विक्षेप शक्ति। आवरण उत्पन्न करने वाली आवरण शक्ति और विक्षेप उत्पन्न करने वाली विक्षेप शक्ति है। आवरण ढांकने वाले को और विक्षेप चंचलता को कहते हैं।

शूरसिंह नामी एक राजपूत विवाह करने के थोड़े दिन बाद ही परदेश में नौकरी करने चला गया और एक पलटन में नौकर होगया। जिस राजा की पलटन में वह नौकर हुआ था उसको कई अन्य राजाओं के साथ युद्ध करना पड़ा इस कारण शूरसिंह बारह वर्ष तक अपने देश-ग्राम में आने न पाया। युद्ध में निश्चित स्थान न होने के कारण घर से चिट्ठी पत्री भी नहीं आती थी। 'घर वाले जीते हैं या मरगये' इस बात की उसको कुछ खबर न थी। अन्त में युद्ध करने वाले राजाओं में अचानक सुलह हो जाने से उनको अपने घर जाने की छुट्टी मिल गई। बहुत रोज हो जाने से और घर पर पहुंचने की आतुरी होने से वह बीच के बड़े शहरों में कहीं नहीं ठहरा, सीधा घर पर चला आया। जब वह घर पर पहुँचा तब रात्रि का समय था। आस पास वाले लोगों से उसको खबर मिल गई थी कि उसके माता पिता मर गये हैं, स्त्री मकान पर है। दरवाजे पर जाकर उसने कुंडी खटखटाई; न तो आवाज आई न किवाड़ खुले तब वह पास के मकान की छत के ऊपर से अपने मकान में उतर आया। वहां आकर देखा तो एक पलंग पर एक पुरुष सोता हुआ पाया और अपनी स्त्री उसके सिरहाने पंखा हाथ में पकड़े हुए बैठी हुई दीखी। दीपक टिमटिमा रहा था। अपनी स्त्री को पलंग पर बैठकर एक पुरुष की हवा करने की स्थिति में देखकर उसको क्रोध हो आया। "मैं बारह वर्ष से परदेश में था, मेरे पिता का देहान्त होगया है, स्त्री व्यभिचारिणी हो गई है, उसका यार सो रहा है और वह हवा कर रही थी; हवा करते २ सोगई है" इस प्रकार

विचारकर उसने तुरन्त ही तलवार पर हाथ डाला और तलवार म्यान से खींच कर सोते हुए पुरुष को मारने दौड़ा। जब उसके समीप आया तो उस पुरुष का निर्दोष मुख दिखाई दिया। उसे देख कर वह रुक गया। स्त्री जाग गई और सामने पति को तलवार खींचे हुये देख कर घबराती हुई प्रणाम कर कहने लगी "हे नाथ! जल्दी न कीजिये, धैर्य का फल मीठा है।" स्त्री के करुणा जनक मधुर वाक्य से वह रुक गया और स्त्री के मुख की तरफ देखने लगा तो उसका क्रोध कुछ कम होगया और कुछ क्रोधित हो कहने लगा "यह कौन सो रहा है?" उसने कहा "स्वामिन्! यह आपका कुल दीपक पुत्र है, तीन दिन से इसे बुखार आता है, तीन रात्रि दिन से उसे और मुझे नींद नहीं आई थी आज ही बुखार कुछ कम हुआ है, उसको नींद की झपकी लगी देख कर मुझे भी नींद आगई, आपके आने की हमको कुछ खबर न थी। शूरसिंह ने कहा "जब मैंने किवाड़ खटखटाये और आवाज दी तो किसी ने किवाड़ न खोले तब मैं पास के घर की छत पर होकर उतर आया, अब बता, यह मेरा लड़का किस प्रकार है? मैं तो तुझे विना लड़का छोड़ कर गया था" स्त्री ने कहा "स्वामिन्! हां सच है, जब आप गये थे तब मुझे गर्भिणी हुए एक मास भी पूरा नहीं हुआ था। आठ महीने बाद पुत्र उत्पन्न हुआ, आज आप पूरे बारह वर्ष आठ मास पीछे आये हो। आज पुत्र के बारह वर्ष पूर्ण हुए हैं देखिये, पुत्र का मुख भली प्रकार देखिये।" शूरसिंह ने बत्ती तेजकी और पुत्रको देखा तो उसे सर्वथा अपनी आकृति

का पाया। उसका सब क्रोध शान्त हो गया। जो साहस करने को तैयार हुआ था उसका पश्चात्ताप करने लगा और बोला "प्रिये! तूने ही आज मुझे बचा लिया है, यदि तू मुझे न रोकती तो मैं अवश्य पुत्र का घात करता, और तुझे भी जीती न छोड़ता, आज मेरा कोई पूर्व पुण्य आड़ा आगया, जिस से बालक और स्त्री दोनों निरपराधियों की हत्या करने से बच गया।" पश्चात् लड़का आरोग्य हो गया और तीनों आनन्द से रहने लगे।

जिस भाव से शूरसिंह कार्य करने को उद्यत हुआ था उस भाव का ही नाम अज्ञान है। अज्ञान अन्धेरा स्वरूप है, अन्धेरा ही उसका सहायक है। पुत्र को पुत्र न समझ कर पुरुप समझना अज्ञान की आवरण शक्ति और मारने रूप क्रिया विक्षेप शक्ति थी। पुत्र बारह वर्ष का था परन्तु उत्तम खाने पीने से शरीर भराऊ और लम्बा चौड़ा था, इसलिये शूरसिंह को धोखा हो गया था। जिसमें दोष नहीं हैं उसमें कल्पना करके दोषारोपण करने को अज्ञान कहते हैं। बालक निर्दोष था और स्त्री भी निर्दोष थी। जब पुत्र का मुख देखा और पुत्र ही है ऐसा बोध हुआ तब स्त्री का यार है ऐसी जो कल्पना थी, उसका एक दम नाश हो गया। अधिष्ठान के विशेष अज्ञान और सामान्य ज्ञान से अन्धेरे आदिक दोष के कारण अज्ञान पूर्ण रूप से प्रकाशता है। स्त्री का यार शूरसिंह की कल्पना सिवाय और कहीं नहीं था। जिस प्रकार पुत्र रूप वस्तु में उसने यह कल्पना करली थी; इसी प्रकार परब्रह्म

रूप वस्तु में अज्ञान की कल्पना से जगत् की स्थिति है। जैसे स्त्री ने पुत्र का यथार्थ बोध कराया तब शङ्का की निवृत्ति हुई; इसी प्रकार जब गुरु ब्रह्म का बोध कराता है तब जगत् की निवृत्ति होती है। जगत् अज्ञान का कार्य रूप होने से कारण अज्ञान की निवृत्ति होने से अन्त में कार्य भी मिट जाता है। कारण की निवृत्ति जीवन्मुक्ति कहलाती है और कारण कार्य दोनों की निवृत्ति विदेह रूप परमपद कहलाता है।

शंका—वेदान्तवादी कहते हैं कि एक ब्रह्म सिवाय और कुछ नहीं है तब अज्ञान कहां से आया? उसकी उत्पत्ति कहां से हुई? यदि यह कहा जाय अज्ञान की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है तो यह असंभव है क्योंकि ब्रह्म को सत्य, अविकारी और असंग कहते हैं। ब्रह्म अवयव रहित है, उसमें से अज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सक्ती। जिस प्रकार अग्नि में से बरफ नहीं हो सक्ती; इसी प्रकार ब्रह्म में से अज्ञान नहीं हो सक्ता तब अज्ञान कहां से हुआ? यदि यह कहा जाय कि पूर्व के अज्ञान की संतति रूप अज्ञान है, तो भी कभी न कभी वह प्रथम कहीं से हुआ ही होगा।

समाधान—यह महा प्रश्न कहलाता है सामान्य मनुष्य जिनको तत्त्व की प्रक्रियाओं सहित तत्त्वका बोध नहीं हुआ है वे इस प्रकारके प्रश्न किया करते हैं, ऐसे मूढ़ कूप-मेंढककी बुद्धि से समुद्र को समझना चाहते हैं। ब्रह्म सिवाय और कुछ नहीं है, यह सत्य है परन्तु इस सत्यता की प्रतीति तत्त्वदर्शी ही कर सकते हैं, न कि माया में फंसे हुए व्यवहारिक मनुष्य। व्यवहार में फंसे

हुए मनुष्यों को व्यवहार की प्रतीति सत्य रूप होती है, उन लोगों को व्यवहार की आसक्ति से हटाकर आत्मभाव में लाने के लिये ही अज्ञान का कथन हैं। जिसको भ्रम सत्यता से दीखता है, उसके भाव के हटाने को, द्वैत भाव वाले को समझाने के लिये अज्ञान का कथन है। ज्ञानी की दृष्टि में न तो अज्ञान है, न अज्ञान का कार्य है, ऐसे पुरुषों के लिये अद्वैत का कथन है। एक ब्रह्म के सिवाय अन्य कुछ नहीं है, यह उपदेश द्वैत भाव छुड़ाने के निमित्त है, अद्वैत में से अज्ञान की उत्पत्ति बताने के निमित्त नहीं हैं। उत्पत्ति पदार्थ की होती है, जो पदार्थ ही नहीं है, तो उसकी उत्पत्ति कैसी ? ब्रह्म तत्त्व रूप है उसके सामने अज्ञान कोई तत्त्व पदार्थ नहीं है इसलिये ब्रह्म से अज्ञान की उत्पत्ति नहीं है। जैसे भ्रम करके रस्सी में सर्प दीखता है। जैसे वह सर्प रस्सी में से उत्पन्न हुआ है ऐसा नहीं कह सक्ते इसी प्रकार ब्रह्म से अज्ञान की उत्पत्ति नहीं है। जैसे रस्सी रूप स्थान में सर्प की प्रतीति होती है; इसी प्रकार ब्रह्म में अज्ञान और अज्ञान के कार्य जगत् की प्रतीति होती है, जो भ्रम रूप हैं वस्तु रूप नहीं है, इसलिये अज्ञान की उत्पत्ति नहीं है। जिसको दृढ़ अज्ञान है उसके लिये उसकी उत्पत्ति भी होगी, ऐसा अनुमान होता है, ऐसे अनुमान करने वाले स्वयं अज्ञान में हैं इसलिये उनका अनुमान भी अज्ञान-भ्रम रूप है।

प्रथम ही कह चुके हैं कि अज्ञान भूल को कहते हैं। भूल में रह कर भूल की आदि को जानने में कोई भी समर्थ नहीं है

और भूल निकल जाने पर भूल की आदि जानने का कोई प्रयोजन नहीं रहता। भूल करने वाले को भूल में जो पदार्थ दीखते हैं, वे भूल से प्रथम के हैं, इस प्रकार अज्ञानियों का अज्ञान अनादि है और जब तक वे अज्ञान में हैं तब तक उनको अज्ञान अनन्त भी है। जब ज्ञान उत्पन्न होने पर अज्ञान नहीं रहता तब वे जानते हैं कि अज्ञान की उत्पत्ति ही न थी। मुमुक्षुओं के समझाने के लिये शास्त्रकारों ने अज्ञान को अनादि कहा है और साथ ही कल्पित भी कहा है। जो लोग अज्ञानकी आदि ढूंढ़ते हैं वे मूढ़ हैं, यह उनका ढूंढ़ना व्यर्थ है। व्यर्थ परिश्रम को मिटाने के निमित्त अनादि कल्पित कहकर समझाया है। फिर भी उन वाक्यों को न मानकर अज्ञानकी आदि ढूंढ़ना मूर्खता है। बच्चा अंधेरेमें दौड़ता फिरता है तब लड़के को जीव जन्तु काटने का और गिर पड़ने आदि का माता पिताको भय रहता है तब वे 'वहां हौआ है' इस प्रकार कहकर लड़के को अंधेरे में जाने से रोकते हैं; इसी प्रकार अज्ञानियोंको अज्ञानकी आदि ढूंढ़ने से रोकने के लिये अज्ञानको अनादि कहा है; जो अज्ञानी होकर भी अपनेको ज्ञानी समझते हैं, वे जगत्की आदि ढूंढ़ते हैं, जब वे शास्त्रोपदेशसे अपनेको संसारी और आत्म बोध रहित समझने लगते हैं तब जगत् की आदि न ढूंढ़ते हुए, उसकी निवृत्ति के प्रयत्न में लगते हैं। जिस प्रकार व्यवहारिक पदार्थों और शास्त्रों की मीमांसा की जाती है और समझ में आते हैं इस प्रकार वेदान्त का गहन विषय सामान्य बुद्धि से समझ में नहीं आता।

ब्रह्म में न तो अज्ञान है और न ब्रह्म से उसकी उत्पत्ति है। जब ब्रह्म साक्षात्कार होता है तब समझ में आजाता है कि अज्ञान का जो कथन है वह मात्र जगत् और जगत् के अनेक प्रकार के दुःखों की निवृत्ति के निमित्त है। आत्मभाव से हट कर भ्रम भाव में आना–स्वरूप का विस्मरण होना अज्ञान है। जब व्यवहार में ही भूल से दुःख होता है तब स्वरूप के भूलने से दुःख क्यों न होगा।

उदयपुर का राणा राजसिंह एक दिन सभा में बैठा था इतने में आधार बिना आश्चर्य जनक खेल करके दिखलाने वाले राजनटों की एक टोली वहां आई। राणा ने कहा "हे सभाजनो! यदि तमाशा देखने की तुम्हारी इच्छा हो तो नटों से दिखाने को कहा जाय।" सरदारों ने अनुमति दी और नटों ने खेल आरम्भ किया।

दोनों तरफ़ के ऊंचे २ वृक्षों पर पृथ्वी से सौ सौ हाथ ऊंचे रस्से बांधे और नाना प्रकार के नट–विद्यात्मक तमाशे करने लगे। उनके कौशल को देख कर राणा और सब सरदार प्रसन्न होते थे और पारितोषिक देते थे। इनाम से नटों का उत्साह बढ़ता जाता था। अनेक प्रकार के आश्चर्ययुक्त खेल करने के बाद नटों के नायक ने कहा "हे महाराणा और सरदारो! अब मैं एक अलौकिक खेल करता हूँ। जब तक मेरी रस्सी आकाश में अधर खड़ी रहे तब तक तमाशे को संपूर्ण हुआ न समझिये। इस खेल में अनेक लीलायें होंगी। जब तक खेल समाप्त न हो तब तक

मेरे आदमी और स्त्री जिस प्रकार करें, कहें उस प्रकार कहने देना। मेरी स्त्री की रक्षा करना, तुम्हारे भरोसे स्त्री को छोड़ कर मैं आसमान को जाता हूं ? हमारे खेल करने वाली नटी को रोकना नहीं, इस मेरी प्रार्थना को दृढ़ता से याद रखिये। यदि किसी ने किसी बात की रोक की तो खेल बिगड़ जायगा इतना ही नहीं किन्तु हम लोगों के जीव की भी हानि होगी।" यह बात राणाजी सहित सब सरदारों ने स्वीकार करली। नट नायक ने एक पतली सूत की रस्सी, सिरे को हाथ में रख कर आकाश में बहुत जोर से फेंकी जो विना आधार आकाश से पृथ्वी तक लटकती रही। विना आधार रस्सी को टिकी हुई देखकर सब आश्चर्य युक्त हुए। नट ने कहा "आप आश्चर्य तो आगे करेंगे। आपकी दृष्टि में सूत कहां तक गया है, देखने में नहीं आता। वह मेरा सूत यक्ष लोक में पहुंच गया है। जहां तक मेरा सूत पहुँचा है वहां तक मेरी सत्ता जम गई है। मेरी सत्ता यक्ष के राज में पहुंच गई है ? उसे देखकर यक्ष का राजा मेरे साथ युद्ध करने आ रहा है ! मैं युद्ध करने जाता हूं ?" ऐसा कह कर उसने ढाल तलवार ली और रस्सी को पकड़ता हुआ आकाश को चला। थोड़ी देर तक तो राणा और सभाजन उसे जाता हुआ देखते रहे, बाद दीखना बन्द हो गया। नट चढ़ते समय कह गया था कि जब मेरा यक्ष के राजा से युद्ध आरम्भ होगा तब एक भारी आवाज होगी और रणवाद्य भी बजेंगे। थोड़ी देर में एक बड़ी भारी आवाज के साथ रणवाद्य बजे। सभाजनों ने समझ लिया कि युद्ध आरम्भ होगया। युद्ध में जो जो होता था उसका एक

नट वर्णन करता जाता था। "यक्ष पति तलवार मारने आया, नट राज तलवार चुका कर तलवार मारने दौड़ा, यक्ष पति दो पैर पीछे हट गया, नट राज की दूसरी तलवार ने यक्ष पति का मुकुट छेदन किया।" इस प्रकार युद्ध का वर्णन करते २ एक दम बोल उठा "हाय! नट राज का बांया हाथ कट गया! हाथ की ढाल गिर पड़ी, दूसरे हाथ से उठाली! सन सन करता हुआ कटा हुआ हाथ आ रहा है! हाय! यक्ष पति ने हमारे मालिक पर चोट की! इतने ही में कटा हुआ हाथ सभाजनों के सामने आ पड़ा! खेल है, यह राणा और सभाजन भूल गये और नट पर करुणा करने लगे! इतने में ही नट ने दोनों पैर कटने का वर्णन किया और वे भी सभा सन्मुख आकर गिर पड़े। "अब नट नहीं बचेगा, यक्ष पति उसे मार डालेगा!" इस प्रकार सभाजन विचार रहे थे कि इतने में ढाल तलवार सहित दहना हाथ कटने की खबर मिली, वह भी आकर पृथ्वी पर गिर गया। पश्चात् धड़ आ कर गिरा, और लोग सोच ही रहे थे कि शिर भी आकर गिर पड़ा! अब सबको निश्चय होगया कि नट मर गया। नट रोने पीटने लगे, नट राज की स्त्री भी रोने लगी और राणाजी से हाथ जोड़ कर कहने लगी "अन्नदाता! मेरा अब जीना व्यर्थ है! हम नट का काम करते हैं परंतु हैं क्षत्री, मैं पतिव्रता स्त्री हूँ, अब मैं पति के साथ सती होऊंगी आप लकड़ियां मंगवाइये! राणा आश्चर्य करने लगा। "तमाशे में एक की जान तो गई, अब स्त्री की हत्या होती है।" सूत खड़ा ही था। राणा ने लकड़ियां मंगाने की आज्ञा दी। लकड़ियां आगईं। नटों ने चिता बनाई और पूजन आदि करके नट की स्त्री पति के कटे हुए सब

अंगों को गोद में लेकर आंच लगा कर जलने लगी। नट रो रो कर कोलाहल मचाने लगे। सब सभाजनों के मुख पीले पड़ गये। जब चिता जल चुकी, नटों ने जल डाल कर ठंडी की। इतने में आकाश में जय नाद का बाजा बजा। सब आश्चर्य युक्त होकर ऊपर की तरफ देखने लगे। क्या देखते हैं कि नटराज सूत के सहारे उतर रहा है। सबको सलाम करता हुआ वह नीचे उतर आया। "राणाजी का यश हो। अन्नदाता को बहुत ही क्षमा" इस प्रकार कहता हुआ अपने सब नटों को देखने लगा। सब नट दीखे परन्तु उसे अपनी स्त्री न दीखी तब वह राणाजी से कहने लगा "अन्नदाता! मैं आपको अपनी स्त्री सुपुर्द कर गया था वह कहां है?" राणा की अनुमति से एक सरदार ने कहा "जब तेरे एक नट ने तेरे मरने की खबर दी और तेरे सब अंग भी गिर पड़े, तब तेरी स्त्री तेरे शरीर को लेकर जल गई–सती हो गई!" नट ने कहा "हजूर! मैं यह बात नहीं मानता किसी की बदद्यानती हुई होगी उसने मेरी स्त्री को ले लिया है।" इतना कह कर नट राज चिल्लाने लगा "अरी! कक्कू की मा! यहां आजा!" आवाज आई "कक्कू के दादा! मैं कोठरी में बंद हूं! दीवान साहब ने मुझे बन्द कर रक्खा है! मैं कैसे आऊं?" नट राज राणाजी से कहने लगा। "अन्नदाता! देखो! आपके दीवान कैसे भले आदमी हैं कि दूसरे की स्त्री पर नीयत बिगाड़ते हैं!" दीवान घबड़ा गया! नट राज ने कहा "अरी कक्कू की मा! मैं यक्षराज को जीत कर आ गया हूँ, किवाड़ खुल जायंगे तू चली आ!" पासके मकान के किवाड़ खुल गये और स्त्री निकल कर आगई। उसी समय सूत गिर गया और तमाशा समाप्त

हुआ। राणा ने अद्भुत तमाशे का अद्भुत दान देकर नटों को विदा किया।

अज्ञान का यही स्वरूप है, विना आधार टिकी हुई रस्सी के समान अज्ञान है, असंभव को संभव करके विचित्र तमाशा दिखाने वाला अज्ञान है सूत की रस्सी खड़ी रही, नट राज ऊपर चढ़ा, उसके हाथ, पैर, धड़, शिर अवयव कट कर गिर पड़े, स्त्री सती हो गई। नट राज ज्यों का त्यों उतर आया, सती हुई स्त्री कोठरीमें से निकल आई। सब कुछ होने पर भी नट नट ही रहा, नटमें कुछ भी अन्तर न पड़ा, न कोई मरा न कोई जिया।

इसी प्रकार जीव नट राज है, अज्ञान की रस्सी के सहारे अनेक विचित्र लीलायें किया करता है तो भी लीलाओं से असंग है। सभा जन जो तमाशा देखने का प्रण करके बैठे थे आश्चर्य-जनक तमाशा देख कर मोह को प्राप्त हुए इसलिये दो प्राणियों की हत्या हुई ऐसा समझने लगे और जब नट का रूप जैसा का तैसा देखा तब उनका मोह निवृत्त हुआ; इसी प्रकार स्वरूप की प्रगटता से अज्ञान और अज्ञान के कार्यों का अन्त आ जाता है जिस प्रकार नट की लीला कामना सहित थी; इसी प्रकार अज्ञान के कारण जीव भी कामना सहित लीला करने में प्रवृत्त होता है और मोह से इतना ग्रसित होजाता है कि लीला का भाव ही उड़ जाता है और अपने को सचमुच लीला का स्वरूप ही मानने लगता है। अज्ञान दुःख है, अज्ञान से दुःख है। अज्ञान की अत्यन्त निवृत्ति और अपने स्वरूप की प्राप्ति ही परम पद है।

महावाक्य ।

वेदों में जो कुछ कथन किया है, उसे दो प्रकारसे विभक्त कर सकते हैं, एक कथन रूप और दूसरा सारांश रूप, जिसको तत्त्व रूप भी कह सकते हैं। कथन रूप वाक्य को अवांतर वाक्य और सारांश रूप वाक्य को महावाक्य कहते हैं। अंतर सहित वाक्यको अवांतर वाक्य और अंतर रहित को मुख्य वाक्य--महावाक्य कहते हैं। अवांतर वाक्यों में अनेक प्रकार के विधि निषेध रूप कर्म, उपासना और परोक्ष आत्म ज्ञान होता है। कर्म इस इस विधि से करना अथवा इस प्रकार न करना, उपासना की विधि और उपास्य का वर्णन अवांतर वाक्यों में है इसी प्रकार आत्म तत्त्व का वर्णन--अवाच्य वर्णन भी है। जब तक मनुष्य आत्मा को अपने से परोक्ष समझे तब तक उसका वर्णन उसके निमित्त अवांतर वाक्यों में है। जिन वाक्यों के बोध में त्रिपुटी रहे, वे सब ही अवांतर वाक्य हैं। अवांतर वाक्यों के अधिकारी बहुत हैं, इसलिये वेदों में अवांतर वाक्य भी बहुत हैं। वाक्य के बोध में जिसमें महान्‌ता रही हुई है वह महावाक्य कहा जाता है। महावाक्य से अधिकारी को जो बोध होता है, वह त्रिपुटी रहित होता है और अवांतर वाक्य का बोध परोक्ष ही होता है। महावाक्य का बोध भी परोक्ष और अपरोक्ष दो प्रकारका होता है। योग्य अधिकारी को महावाक्य से अपरोक्ष बोध ही होता है परंतु योग्य अधिकारी न होने वाले को महावाक्य से भी परोक्ष बोध ही होता है। अपरोक्ष बोध न होने में अधिकारी की मंदता अथवा अनधिकार का ही दोष है, महावाक्य की सामर्थ्य का नहीं है, अंवां-

तर वाक्यों की अपेक्षा महावाक्य थोड़े हैं। अनेक महावाक्यों में से आचार्यों ने हर एक वेद के एक २ वाक्य को मुख्य महावाक्य कहा हैं। ऋक्, यजु, साम और अथर्व चार वेद हैं। ऋग्वेद का महावाक्य 'प्रज्ञानं-ब्रह्म' यजुर्वेद का 'अहं ब्रह्मास्मि' सामवेद का 'तत्त्वमसि' और अथर्व वेद का 'अयमात्मा ब्रह्म' है। इन चारों महावाक्यों का अर्थ, उपाधि रहित जीव ही ब्रह्म है, ऐसा बोध कराता है ऋग्वेद के ऐतरेयोपनिषत् के अध्याय ३ मंत्र ३ में 'प्रज्ञानंब्रह्म,' यजुर्वेद के बृहदारण्यकोपनिषद् के १, ४, १० में 'अहं ब्रह्मास्मि' सामवेद के छांदोग्य उपनिषत् के ६ प्रपाठक में 'तत्त्वमसि' और अथर्व वेद के मांडूक्योपनिषत् के १—२ में 'अयमात्मा ब्रह्म' महावाक्य है।

भाग त्याग लक्षणा से जीव ब्रह्म की एकता।

महावाक्य	वेद	उपनिषद्	जीव वाचक	ईश्वर वाचक	एकता
प्रज्ञानंब्रह्म	ऋक्	ऐतरेय ३ । ३	प्रज्ञान	ब्रह्म	आनंद
अहं ब्रह्मास्मि	यजुः	बृहदारण्य १ । ४ । १०	अहं	ब्रह्म	अस्मि
तत्त्वमसि	साम	छान्दोग्य ६	त्वं	तत्	असि
अयमात्मा ब्रह्म	अथर्व	मांडूक्य १—२	आत्मा	ब्रह्म	अयं

ऋग्वेद के ऐतरेय उपनिषद् के तीसरे अध्याय के तीसरे मंत्र में यह प्रसंग है:—जो यह हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्मा है, जो देव राज इन्द्र रूप है, जो प्रजापति अर्थात् विराट आत्मा है, जो अग्नि वायु आदिक सर्व देवताओं अर्थात् वागादि का अधिष्ठान रूप देवता है, जो इन पंच महाभूत पृथिवी, वायु, आकाश, जल और ज्योति रूप से है जो क्षुद्र अर्थात् चेंटी, मच्छर आदिक से युक्त, मनुष्यादि शरीर रूप से है, जो बीज रूप अर्थात् अपनी २ जाति के देह का कारण रूप है, जो परस्पर भिन्न है, वह भिन्नता इस प्रकार है:—अंडज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज, अश्व, गैया, पुरुष, हस्ती रूप से जो जो दृष्टि का विषय है, जो पाद से गमन करने वाले प्राणी समूह, हैं, जो आकाश में से नीचे उतर सक्ते है, और जो बुद्धि से रहित हैं, वे सर्व, तीन प्रकार के भेद से रहित और स्वप्रकाश स्वरूप ब्रह्म से सत्ता पाने वाले हैं, उन सबकी स्थिति चैतन्य में ही है। यह चर और अचर रूप सब प्रपंच चैतन्य में स्थिति करता है अर्थात् प्रलय काल में सब जगत् का लय चैतन्य में हो जाता है। इस प्रकार चैतन्य ही ब्रह्म रूप है अर्थात् जीव और ब्रह्म सब एक रूप है। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' के तीन पाद स्पष्ट करने के लिये 'प्रज्ञानं आनन्दं ब्रह्म' कहा जाता है।

यजुर्वेद के बृहदारण्यक उपनिषत् के प्रथम अध्याय के चौथे ब्राह्मण के दशवें मंत्र में यह प्रसंग है:—यह सर्व पूर्व में ब्रह्म रूप से था। उसने आत्मा को प्रथम जाना 'मैं ब्रह्म हूँ' इसलिये मेरा आत्मा सर्व रूप होता है, देवताओं में से जो कोई उसे

पहिचानता है, वह मात्र उसका ही रूप होता है। इस प्रकार ऋषियों में से अथवा मनुष्यों में से जो कोई उसको इस प्रकार जानता है, वह उसका रूप हो सक्ता है 'यह वह है' इस प्रकार जानने से वामदेव नाम का ऋषि नीचे दिखलाई स्थिति को प्राप्त हुआ था:—मैं मनु रूप हुआ, मैं सूर्य रूप हुआ, मैं ब्रह्म हूँ। इसी प्रकार हाल में भी जो कोई ब्रह्म को जानता है, उसकी सर्व रूपपने की स्थिति को रोकने में देवता भी समर्थ नहीं होते। 'वह दूसरा है, मैं दूसरा हूँ' इस प्रकार अन्य देव रूप से जो आत्मा की उपासना करता है, वह आत्मा को जान नहीं सक्ता और पशु के समान वह देवताओं के उपयोग में आता है। जिस प्रकार एक मनुष्य बहुत पशुओं का रक्षण करता है, इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य देवताओं का रक्षण करता है। जैसे एक पशु के हरण होने से पशु वाले को अप्रियता उत्पन्न होती है तो बहुत के हरण हो जाने से अप्रियता का कहना ही क्या है ? इसलिये मनुष्य ब्रह्म को जाने, यह देवताओं को रुचिकर नहीं है। इस प्रकार दिखलाते हुए शुद्ध लक्ष से 'मैं जीव ही ईश्वर ब्रह्म रूप हूँ' यह सिद्ध करते हैं।

सामवेद के छान्दोग्य उपनिषत् के छठे प्रपाठक में उद्दालक मुनि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को अनेक दृष्टान्तों द्वारा उपदेश दिया है। उसने ब्रह्म का लक्ष कराते हुए कहा "यह सत् अणु के समान सूक्ष्म है, वह सब जगत् का आत्मा रूप परब्रह्म है, तू भी वह ही है, (तुझमें और ईश्वर में भिन्नता नहीं है) यह जो अणु समान

सबका आत्मरूप है, वह सत्य रूप है, वह सबका परमार्थ रूप ज्ञान रूप है, हे श्वेतकेतु वह तू है, तू ब्रह्म है, आत्मा है।" इत्यादि नव वार 'तत्त्वमसि' का उपदेश करके वस्तुरूप से जीव और ईश्वर ब्रह्मरूप है, यह सिद्ध किया है।

अथर्व वेद के मांडूक्य उपनिषत् के दूसरे मंत्र में इस प्रकार का कथन है:—कारण कि यह सब ब्रह्म रूप है, यह आत्मा ब्रह्म है और इस आत्मा के चार पाद हैं। (विवेचन आगे होगा।)

अपरोक्ष ज्ञान होने में महावाक्य ही मुख्य हैं। जिस प्रकार महा पुरुष महा शब्द आदिक का उपयोग होता है, ऐसे ही महा वाक्य को समझना चाहिये। पुरुषों में महान्ता वाला महा पुरुष कहा जाता है। शब्दों में अधिक दर्शक शब्द ही महा शब्द कहा जाता है, इसी प्रकार सब वाक्यों से जिस वाक्य में महानता होती है, वह महावाक्य कहा जाता है। वेद का अर्थ ज्ञान है, उसमें विशेषता वाले महा वाक्य हैं। वेद के 'तत्त्वमसि, आदि महा वाक्यों की अन्य वाक्यों से विलक्षणता है, अन्य वाक्य परोक्ष बोध कराते हैं, और 'तत्त्वमसि' आदि महा वाक्य प्रत्यक् सहित अपरोक्ष बोध कराते हैं।

एक राजा को यह जानने की इच्छा हुई कि मैं पूर्व जन्म में कौन था और किस पुण्य के प्रभाव से मुझको राज्य प्राप्त हुआ है। उसने अपना पूर्व जन्म और कर्तव्य जानने को एक भारी सभा की, पारितोषिक नियत किया और विद्वान्, ज्योतिषी

आदिकों को यह बात प्रगट की। बहुत से शास्त्रज्ञ थे, परन्तु राजा का पूर्व जन्म निश्चित रूप से किस प्रकार कहा जाय? क्योंकि यदि कोई बात विरुद्ध पड़ जाय तो जान खोने का समय प्राप्त हो इसलिये यह कार्य करने से विद्वानों ने अपना हाथ खींच लिया। राजा बहुत चतुर था, उसके सामने बनावटी बात चल नहीं सक्ती थी, ऐसा समझकर चालाक भी चुप रहे। एक गरीब ब्राह्मण था, वह अपने पंडित होने का अथवा ज्योतिषी होने का दावा नहीं करता था। वह अत्यन्त गरीब था, धन की इच्छा वाला था, उसने सोचा "यदि राजा का पूर्व जन्म किसी प्रकार से मुझे मालूम होजाय तो मेरे दरिद्रताकी निवृत्ति होजाय, मैं पूर्व जन्म को नहीं जानता, हां! यदि किसी इष्ट की उपासना करूं तो मुझे पता मिल सक्ता है परन्तु इष्ट के बताये हुए पूर्व जन्म से, यदि राजा अपना नियत किया हुआ पारितोषिक मुझे न दे, तो मेरा किया हुआ परिश्रम व्यर्थ जायगा! इसलिये उत्तम यह है कि राजा से पूछ कर प्रथम ही निश्चय कर लिया जाय।" ऐसा सोच कर वह राजा से मिला और आशीर्वाद देकर बोला "महा-राज! आपका पूर्व जन्म मैं नहीं कह सक्ता परन्तु आपके पूर्व के जन्म का पता किसी और से लगाने का यदि मैं प्रयत्न करूं तो आप नियत किया हुआ धन मुझे देंगे या नहीं?" राजा बोला "हे ब्राह्मण! मुझे पूर्व जन्म, कर्मका पता लगने की आवश्यकता है, आप बताओ अथवा दूसरे के द्वारा मालूम करो वह एक ही बात है, बोलिये, आप किस प्रकार पता लगाना चाहते हैं?" ब्राह्मण बोला "महाराज! मैं दरिद्री हूँ, मुझे धनकी आवश्यकता

है, मैं इस निमित्त इष्ट को प्रसन्न करूंगा। आपका उत्तर इस प्रकार देना चाहता हूँ, यदि ऐसा करने से मुझे धन मिलता हो तो मैं परिश्रम करूं।" राजा बोला "अवश्य, आप इष्ट से पूछ कर कह सकते हैं या दूसरे से कहला सकते हैं, पारितोषिक आपको ही मिलेगा।" ब्राह्मण निश्चय हो जाने से प्रसन्न होता हुआ घर पर आया और स्त्री से कह कर अरण्य में गया। वहां एक घनी झाड़ी में उसने दुर्गा का एक मन्दिर देख कर एक क्षण भी विश्रान्ति लिये विना दुर्गा का जप और ध्यान करना आरम्भ किया। चौथे दिन दुर्गा प्रसन्न होकर बोली "हे ब्राह्मण! तेरे एकाग्र चित्त से किये हुए अनुष्ठान से मैं प्रसन्न हुई हूँ, जो कुछ मांगना चाहे, मांग।" ब्राह्मण बोला "माता! हमारा राजा इस जन्म में वहुत सुख भोग रहा है, वह पूर्व जन्म में कौन था और किस पुण्य के प्रभाव से यह सुख उसे प्राप्त हुआ है, यह जानना चाहता हूँ।" दुर्गा बोली "ठीक! मैं जानती हूँ कि तू इस वात को राजा से कह कर अपना दारिद्र मिटाना चाहता है। यदि तू यह वात राजासे कहेगा तो उसे विश्वास नहीं आवेगा, इसलिए तू राजा से जाकर कह कि राजधानी से आधे कोश पर एक गौशाला है, वहां एक अंधा अहीर है, वह तुझे तेरे पूर्व जन्म की वात वतावेगा।" दुर्गा यह कह कर अंतर्ध्यान होगई, ब्राह्मण घर पर आया और भोजन कर राजा के पास पहुँचा। दुर्गा की कही हुई वात उसने उससे कही। राजा गौशाला में गया और अंधे अहीर के पास जाकर बोला "हे सूरदास! मैंने सुना है कि तू मेरे पूर्व जन्म की वात जानता है,

सो कह !" अंधा अहीर घबराहट में पड़ा, नेत्रों में आंसू आ गये, धैर्य धारण कर कहने लगा "हे राजन् ! राजधानी के उत्तर में एक जंगल है, उसमें एक तालाब के किनारे एक विशाल वृक्ष है, उसमें एक पिशाचिनी रहती है, आप अकेले उसके पास जाइये, वह आपको बतावेगी।" दूसरे दिन अंधे अहीर के कहे अनुसार राजा तालाब के पास पहुँचा और बोला "हे पिशाचिनी ! मैं पूर्व जन्म में कौन था ? यह बात मुझे बता !" पिशाचिनी भयंकर चीख मार कर रोने लगी ! राजा मूर्छित होगया, बड़ी देर में होश में आया ! पिशाचिनी डरती हुई कहने लगी "हे राजा ! तू यह बात मुझसे मत पूछ, तेरे मुख्य मंत्री की एक आठ वर्ष की कन्या है, उससे पूछियो वह बता देगी।" राजा राजधानी में लौट आया। दूसरे दिन उसने मुख्य मंत्री से पूछा "क्या तुम्हारे कोई आठ वर्ष की लड़की है ?" मंत्री बोला "हां, महाराज !" राजा बोला "हे मंत्री ! मैं रात्रि को एक पहर बीतने पर तुम्हारी कन्या से एकान्त में कुछ बात करना चाहता हूँ, मेरे पूर्व जन्म का कुछ पता लगना संभव है !" मंत्री बोला "बहुत अच्छा, एक पहर रात्रि बीते आप मेरे मकान पर पधारिये।" नियत समय पर राजा मंत्री के घर पहुँचा। मंत्री लड़की को ले आया और आप दूसरे मकान में चला गया। राजा ने कहा "पुत्री ! मैं एक बात पूछता हूँ, इसका सच्चा उत्तर मुझे दे !" मंत्री पुत्री बोली "पूछिये ! क्या पूछते हो ?" राजा बोला "मैं पूर्व जन्म में कौन था ? और किस पुण्य से मुझे राज्य सुख प्राप्त हुआ है ?" मंत्री पुत्री कहने लगी "कई एक वर्ष प्रथम इस देश

में एक गरीब ब्राह्मण रहता था। ब्राह्मण, ब्राह्मण की स्त्री, एक पुत्र और एक पुत्रवधू, ये मनुष्य थे और भिक्षा से अपना निर्वाह किया करते थे। एक समय सात दिन तक बराबर जल पड़ता रहा इसलिये वे भिक्षा मांगने न जासके और सात दिन सबको उपवास हुआ। आठवें दिन वे भिक्षा मांगने गये परन्तु महा कठिनाई से, दो मनुष्यों का पेट भरे, इतना अन्न मिला। अन्न सीजा गया और केले के पत्तों पर चार भाग में बांट दिया गया। वे भोजन करने की तैयारी में ही थे कि दो अतिथि आगये, उन्हें देख कर ब्राह्मणी जल गई, क्योंकि वह जानती थी कि ब्राह्मण अवश्य अपना भोजन दे देगा और हमारा भी दिलवा देगा इसलिये पुत्र को इशारा करके, मां बेटा दोनों ने अपना भोजन छुपा दिया, स्वामी और पुत्रवधू क्या खायेंगे, इसकी परवा ब्राह्मणी ने न की। ब्राह्मण ने शेष रहा हुआ अपना और पुत्रवधू का भाग अतिथियों के सामने रख दिया और भोजन करनेको कहा। अतिथियोंने यह नहीं माना, दो केलेके पत्ते मंगवाकर दो के चार भाग किये और चारों ने भोजन किया। मा बेटों ने कोठरी में जाकर अपने २ भागका भोजन कर लिया। हे राजा! वह ही ब्राह्मण तू है!" राजा चकित होकर बोला "हे देवी! तू मेरे पूर्व वृत्तान्त को जानती है, तब बता कि मेरी स्त्री, पुत्र और पुत्रवधू की क्या गति हुई?" कन्या बोली "आप जिस अंधे अहीर के पास गये थे, वह आपका पूर्व जन्म का पुत्र है, और तालाब के विशाल वृक्ष में जो पिशाचिनी आपने देखी है, वह पूर्व जन्म की आपकी स्त्री है!" इतना कह मंत्री

कन्या चुप हो गई ! तब राजा बोला "हे देवी ! मेरी पुत्रवधू का क्या हुआ ?" तब कन्या बोली, महाराज ! यह मुझ से मत पूछिये ! उसका यह कथन सुनकर राजा बोल उठा "मैं समझ गया, पूर्व जन्म की तू ही मेरी पुत्रवधू है ! क्यों ! सच है या नहीं ?" कन्या ने कुछ प्रत्युत्तर न दिया। राजा ने मंत्री कन्याको गोद में लेकर प्रेम से चुम्बन किया और मंत्रीको आने की आज्ञा दी। मंत्री के आते ही राजा बोला "हे मंत्री ! तुम्हारी कन्या साक्षात् लक्ष्मी है, यदि तुम उसका विवाह मेरे कुंवर के साथ कर दोगे तो मैं तुम्हारा आभार मानूंगा।" मंत्री ने पुत्री का विवाह राजकुमार के साथ कर दिया। गरीब ब्राह्मण को राजा ने बहुत धन देकर संतुष्ट किया।

कन्या ने पूर्व वृत्तान्त कहते हुए कहा था "हे राजा ! वह ब्राह्मण तू है" यह महा वाक्य के समान है। उससे राजा को ब्राह्मण का और राजा का अभेदरूप से बोध हुआ। इसी प्रकार चारों वेदों के महा वाक्य अभेद-रूप का बोध कराते हैं। राजा ने फिर पूछा था "मेरी पुत्र वधू का वृत्तांत कह" तब मंत्री पुत्री चुप रही, अपना कथन उसने स्पष्ट रूप से न किया, तो भी वह एक ही शेष रही थी इसलिये राजा समझ गया। इसी प्रकार अद्वैत महावाक्य चुप रूप ही है, वह लक्ष्य पहुंचाने तक ही है। स्वरूप स्थिति में चुप ही बोध है। राजा को जो अपना बोध हुआ था वह महावाक्य रूप था और स्त्री, पुत्र, पुत्रवधू का बोध परोक्ष रूप होने से अवान्तर वाक्य के समान था। जिस

प्रकार राजा को अपने पूर्व जन्म का वृत्तांत मालूम नहीं था; इसी प्रकार जीव को अपने शुद्ध स्वरूप की खबर नहीं है, जब अद्वैतानुभव रूप कन्या से जानता है, तब ही उसे अपने शुद्ध स्वरूप का बोध होता है। मंत्री पुत्री को अपना बोध अपने लिये अपरोक्ष था और दूसरों का बोध परोक्ष था। महावाक्य एक महान् विलक्षण वस्तु है, जो मन वाणी का अविषय है, और शब्द द्वारा शब्द छोड़ते हुए बोध कराने में समर्थ है इसी कारण उसको महाशब्द महावाक्य कहते हैं। गड़ी हुई महानिधि के ऊपर महान् ताला लगा हुआ हो, वह न किसी से खुले न टूटे, ऐसा हो, उसे खोलने की चाबी रूप महावाक्य है। जिस वाक्य के श्रवणके बाद और कोई वाक्य श्रवण करने योग्य न रहे, और अपने प्रभाव के अनन्तर स्वयं भी न रहे, वह महावाक्य है। जो सब वाक्यों को सिद्ध करने वाले तत्त्व का बोध कराने वाला है, जिसमें से होने वाला बोध सबका साक्षी और अधिष्ठान है, वह महावाक्य है। जिस बोध से अन्य किंचित् भी अवशेष नहीं रहता, जिसमें से सबकी उत्पत्ति स्थिति और लय होते हैं, ऐसे बोध का उत्पादक जो वाक्य है; वह महावाक्य है। जिस वाणी में सब वाणियों का लय होता है, जो महावाक्य कहलाते हुए भी महान् और वाक्य भाव से रहित बोध स्वरूप है, वह महावाक्य है। जिस वाक्य का अधिकारी होकर श्रवण किये बिना मोक्ष को प्राप्त नहीं होता, ऐसा जो कोई महान् शब्द है, जो ब्रह्मनिष्ठ गुरु द्वारा प्राप्त होता है, वह महावाक्य है।

कई कर्म भाव से लिप्त बुद्धि वालों का कहना है कि उपनिषत् वेद नहीं है, यह कथन अयोग्य है। वे लोग वेद के ही दो टुकड़े करके एक को वेद दूसरे को वेद नहीं है, ऐसा कहते हैं। 'धड़ ही मनुष्य है शिर नहीं' इस प्रकार उनका कथन है। मंत्र और ब्राह्मण दोनों मिल कर वेद है। मंत्र भाग धड़ रूप है, ब्राह्मण–उपनिषत् भाग शिर रूप है इसलिये उपनिषदों को वेद का शिरो भाग कहते हैं। जैसे विना शिर धड़ मुरदा है इसी प्रकार मंत्र भाग को ही वेद मानेंगे तो वेद निर्जीव रूप मुरदा हो जायगा। वेद में जो कुछ वेद्य है, उसका स्पष्ट बोध उपनिषत् से होता है। मंत्रों का निचोड़–तत्त्व रूप–जीव रूप उपनिषत् है और उसी में महावाक्य स्पष्ट किये गये हैं। मंत्र भाग कर्म निमित्त है और उपनिषत् मोक्ष निमित्त है। शुभ और निष्काम कर्म मोक्ष में उपयोगी होने से सहायता रूप है। मंत्रों की प्रतिष्ठा मोक्ष में उपयोगी होने से ही है, यदि वे मोक्ष में उपयोगी न हों तो मंत्र-भाग अत्यन्त तुच्छ रूप है, सबका अंतिम प्रयोजन मोक्ष है। उन उपनिषदों में भी जिनसे पूर्ण बोध होता है, वे महावाक्य हैं। महावाक्य का सम्बन्ध मोक्ष के अति निकट है इसलिये सर्व रहस्य रूप महावाक्य हैं।

एक राजा अपने पुत्र को युवराज पद का अभिषेक करने वाला था, उसके समारंभ की धूम धाम शहर में हो रही थी। अनेक देश देशान्तरों के पंडितों का भी अच्छा जमघट हुआ था। भाट, चारण, बंदीजन और बहुत से कंगाल भी आरहे

थे। शहर में पूर्ण उत्साह होरहा था। राजकुमार स्वहस्त से सबको दान दे रहा था और धैर्य से उन लोगों का दुःख भी श्रवण करता था।

दरवाजे के बाजू में एक कंगलिन रो रही थी। वह कुछ उन्मादिनी सी दीखती थी। थोड़े से मलिन फटे टूटे वस्त्र उसके शरीर पर थे। उसे रोती देख एक दरवान ने उसके पास जाकर पूछा "हे बाई! तू क्यों रोती है? युवराज भिक्षुकों को दान दे रहा है, तू भी वहां जा, जो तेरे प्रारब्ध में होगा सो तुझे भी मिल जायगा।" यह सुनकर कंगलिन और भी अधिक रोने लगी! दरवान घबराया कि यदि युवराज को बाई के रोने की खबर पड़ जायगी तो वह मुझ पर अत्यन्त क्रोध करेगा इसलिये नम्रता से फिर बोला "बाई! मंगल का दिन है सब स्थान पर उत्सव हो रहा है, इस समय रोना उचित नहीं है। किस कारण रोती है? क्या चाहती है, जो तेरी इच्छा हो सो कह, मैं उसे पूर्ण कराने में यत्न करूंगा।" इतने में दो कर्मचारी और आगये। कंगलिन का रोना बंद न हुआ! युवराज को भी उसके रोने की खबर पड़ गई। वह वहां आकर कहने लगा "माताजी! आप मेरे महल के पास बैठ कर क्यों रोती हो?" माताजी ऐसा शब्द सुन कर कंगलिन को आनन्द हुआ! वह हर्षाश्रु से गद्गद् होकर बोली "हे वत्स! मैं तुझसे एक बात कहना चाहती हूँ, यदि तू मेरा कथन निर्जन स्थान में सुनेगा तो मैं कहूँगी!" युवराज ने यह बात स्वीकार की। वह उसे अपने राजमहल में लेगया और जहां कोई मनुष्य न था वहां

जाकर पूछने लगा "माताजी ! जो तुझे कहना हो सो कह।" कंगलिन चारों तरफ देख कर और कोई मनुष्य न पाकर बोली "हे वत्स ! यदि तू मेरे कहने पर विश्वास करे तो मैं कहूँ !" युवराज बोला "माई। यदि तेरा वचन योग्य होगा तो मैं विश्वास क्यों न करूंगा ?" कंगलिन बोली "आज मुझे मेरा पुत्र मिला है, तू ही मेरा पुत्र है !" युवराज आश्चर्य करता हुआ बोला "किस प्रकार ?" कंगलिन बोली "महेन्द्रपुर के महाराज की सात रानियों से सबसे छोटी मैं हूँ, मैं सगर्भ थी और सब रानियां गर्भ रहित थीं, वे मुझसे जलने लगीं। सबने मिल कर मेरे विरुद्ध राजा से यह कहा कि जब आप शिकार खेलने गये थे तब एक संन्यासी आया था उसने छोटी रानी छद्मवेशा राक्षसी बतलाई और कहा कि जो वह शहर में कुछ दिन और रहेगी तो नगर का नाश हो जायगा। राजा ने मुझे बुला कर यह बात कही। मैंने कहा कि संन्यासी ने इस प्रकार नहीं कहा है, उसने ऐसा कहा है कि इस रानी का जो बालक होगा वह तेजस्वी होगा और उसके मस्तक पर जन्म से ही श्री का चिह्न होगा, जब उसने यह बात कही थी तब भूरा दासी भी पास थी। राजा ने भूरा को बुलाया परन्तु उसने मेरे विरुद्ध कहा क्योंकि रानियों ने उसे लालच दे रक्खा था, इसलिये वह झूठ बोल गई। राजा को मेरा कथन झूठ मालूम हुआ। मैं बहुत रोई परन्तु राजा ने मेरी एक बात न मानी। मैं जंगल में छोड़ दी गई। जंगल में एक बुढ़िया रहती थी, उसके सहारे मैं रहने लगी, बहुत २ कष्ट भोगे, अन्त में हे युवराज ! तेरा जन्म हुआ।

तेरे मस्तकमें मैं श्री का चिह्न प्रत्यक्ष देखती हूँ, वह चिह्न संन्यासी के कहे अनुसार जन्म का है, उसके कहे अनुसार तू स्वरूपवान् और पराक्रमी भी है।" युवराज बोला "फिर आगे क्या हुआ? मैं ही वह हूँ यह किस प्रकार जाना जाय?" तब कंगलिन वेष धारिणी रानी बोली "तेरे जन्म के बाद बुढ़िया दिन पर दिन प्रसन्न होती गई, तेरा स्वरूप उसकी दृष्टि में जँच गया। एक दिन मैं वस्त्र धोने गई थी, फिर आकर देखती हूँ तो तू और डोकरी दोनों ही झोंपड़ी में न थे। मैं पागल के समान जंगल में घूमती रही, तेरी खोज के लिये शहर, ग्राम और जंगल सब ढूँढ़ डाले, आज मेरा पुत्र मुझे मिला है, वह तू है!"

युवराज विचारने लगा "इसके कहने के समान मेरे मस्तक में श्री का प्रत्यक्ष चिह्न है, उसकी और मेरी बोली कई अंश में मिलती है, चेहरे की आकृति भी मिलती है, शायद यह कहती है, वह ही हो।" प्रत्यक्ष कहने लगा "माता जी! मैंने सुना है कि राजमहल में एक बुढ़िया रहती है, वह ही मुझे यहां लाई है, उसे बुलाकर पूछता हूँ।" डोकरी बुलाई गई। युवराज के पास छोटी रानी को देख वह घबरा गई। युवराज ने नेत्र चढ़ाकर कहा "यह माई कहती है कि वह मेरी माता है, इस विषयमें सत्य क्या है?" बुढ़िया घबराती हुई हाथ जोड़ कर और युवराज के चरणों में पड़ कर बोली "राजपुत्र! यह बाई जो कहती है, वह सत्य है, उसने ही मेरे घर में तुझको जन्म दिया था। मेरी मति भ्रष्ट होने से मैं तुझे लेकर भाग आई और यहां के राजाके यहां बेच डाला, अब मुझे बहुत पश्चात्ताप होता है! हे युवराज! मेरा अपराध

क्षमा कर, मुझको अभय वचन दे, मुझे जीती रहने दे।" दयानिधि जगदीश्वरका महान आभार माना, अन्तमें मा बेटोंका मिलाप हुआ।

फटे हाल उन्मादिनी मेरी माता ही है, ऐसा जान युवराज उसके पैरों में पड़ा और रोता हुआ बोला "माता जी! मेरे लिये आपने अनेक संकट सहे हैं, मैं आपसे उनकी क्षमा चाहता हूँ।" उन्मादिनी "वह तू है, वह तू है।" कहती हुई राजकुमार से चिपट गई! युवराज ने उसे स्नान आदिक कराके स्वच्छ वस्त्र धारण कराये। राजा को इस बात की खबर हुई, वह भी प्रसन्न हुआ और युवराज पद का समारम्भ निर्विघ्न समाप्त हुआ। महेन्द्रपुर के राजा को भी सब हाल मालूम हुआ और उसके अन्य कोई पुत्र न होने से यह युवराज ही दोनों राज्य का मालिक हुआ। पिता, पुत्र और पत्नी तीनों मिले। राजा ने भी बिना कारण रानी को निकाल देने का पश्चात्ताप किया।

इस दृष्टांत में "वह तू है" यही महा वाक्य है, अन्य जितने वाक्य हैं वे सब इसी वाक्य से सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार महा वाक्य को समझना चाहिये। युवराज जीव है, बुढ़िया वासना है, वासना ने जीव को चुराया है और अन्य प्रपंच के राजा के यहां बेच दिया है। उसे अपने जन्म और माता पिता की खबर नहीं है, श्रुति रूप माताने खोजकर जब "वह तू है" ऐसा उपदेश दिया तब संयोगों का मिलान करके जीवने अपने आद्यस्वरूप को पहिचाना और जीवन्मुक्त होकर दोनों स्थानोंका राजा हुआ।

.. इसी प्रकार सद्गुरु योग्य अधिकारी को सब संयोग ठीक २ जानकर अवांतर वाक्य सहित महावाक्य का उपदेश करते हैं।

महावाक्यसे जो बोध होता है, उस बोधसे ही अधिकारी अखंडित चक्रवर्ती महाराजाधिराज पद पर आरूढ़ होता है। सब प्रकारके दुःखों से हमेशा के लिये रहित होता है और परमानन्द स्वरूप को प्राप्त होता है। असंभावना और विपरीत भावनारहित दृढ़ अपरोक्ष बोध महावाक्य से होना ही मनुष्य जन्मका साफल्य है, जीव का साफल्य है और ब्रह्म स्वरूप है।

तत्त्वमसि—वह तू है, ऐसे ही ब्रह्मास्मि-ब्रह्म मैं हूँ, का बोध होता है। जब गुरु शिष्य को उपदेश करता है तब तत्त्वमसि कहता है। शिष्य जब अपने लक्ष से जानता है तब ब्रह्मास्मि का बोध सार्थक होता है। इन दोनों महावाक्यों में तू और मैं साक्षी में लक्षित होता है। प्रज्ञानन्द ब्रह्म में प्रज्ञान जीव के और ब्रह्म ईश्वर के भाव से शुद्ध में लक्षित होकर आनन्द में एकता को प्राप्त होता है। ऐसे ही अयमात्मा ब्रह्म में आत्मा जीव के शुद्ध तत्त्व की और ब्रह्म ईश्वर के शुद्ध तत्त्व की अयं में एकता होती है।

चारों महावाक्यों में तत्त्वमसि की विशेषता है। कई शास्त्रों में तीन वेदोंका और कई स्थानोंमें चार वेदों का कथन है। चौथा अथर्व वेद तीनों वेदों का संग्रह रूप होने से किसी २ ने तीन ही वेद कहे हैं। वेदों में प्रथम ऋक् है, दूसरा यजुः और तीसरा साम है। तीनों में सामवेद की विशेषता है क्योंकि उसमें ज्ञानांश विशेष है। इसलिये उसके उपनिषद् छान्दोग्य में आये हुए महावाक्य की भी सबमें विशेषता है। विशेष करके तत्त्वमसि महावाक्य का उपदेश सद्गुरु करते हैं और शिष्य के लिये वह ही ब्रह्मास्मि होता है।

लक्षणावृत्ति ।

'तत्त्वमसि' आदिक महावाक्यों के यथार्थ उपदेश से आत्म-बोध होता है। वाक्य में पद होते हैं। ककारादिक वर्णों का जो समूह है, उसे पद कहते हैं। पद में रहने वाले ककारादिक वर्णों में जो एक ज्ञान की विषयता है, उसको समूहपना कहते हैं। जिस पद का अन्वय जिस पद विना नहीं हो सक्ता उस पद का उस पद के साथ समभिव्याहार का नाम आकांक्षा है; जैसे, 'घट ला' इस वाक्य से श्रोता पुरुष को घट लाने का बोध होता है। यह बोध केवल घट, जो कारक पद है, उससे नहीं होता, वैसे ही 'ला' क्रिया पद से भी नहीं होता किंतु जब दोनों पद विद्यमान हों तब ही होता है इसलिये घट पद का ला के साथ और ला शब्द का घट के साथ समभिव्याहार है। दोनों पदों को परस्पर आकांक्षा है। समभिव्याहारका अर्थ समीपता होता है। आकांक्षा इच्छाको कहते हैं। इच्छा चेतन का धर्म है तो भी यह पद श्रोता पुरुष के स्वविषय की आकांक्षा को उत्पन्न करने वाला है, इस-लिये आकांक्षा वाला कहा है। वाक्य में प्रत्यक्षादि प्रमाण से अबाधित अर्थ की रही हुई सामर्थ्य को योग्यता कहते हैं। जैसे 'घट ला' इस वाक्यका अर्थ घट ले आने का है, इसका किसी प्रत्यक्ष प्रमाण से बोध नहीं होता, यह घट पद में योग्यता है। एक पद के उच्चारण के बाद विलम्ब रहित दूसरे पद के उच्चारण को संनिधि कहते हैं। आकांक्षा, योग्यता और संनिधि के समु-दाय को वाक्य कहते हैं। पद और पदार्थ इन दोनों में जो स्मार्य

और स्मारक-भाव सम्बन्ध है, उसका नाम संगति है। जसे "घट" इस पद के श्रवण से पुरुष को घट रूप अर्थ की स्मृति होती है इसलिये घट पद स्मृति को उत्पन्न करने वाला होने से स्मारक कहा जाता है। घट-रूप अर्थ स्मृति का विषय होने से स्मार्य (जिसकी स्मृति उत्पन्न होती है) कहा जाता है। इस संगति को वृत्ति भी कहते हैं, वृत्ति रूप संगति दो प्रकार की है, शक्ति वृत्ति और लक्षणा वृत्ति। किसी २ शास्त्र में शक्ति वृत्ति, गौणी वृत्ति और लक्षणा वृत्ति ऐसे तीन प्रकार की वृत्ति कही हैं। शक्ति को मुख्य शक्ति भी कहते हैं। यह शक्ति वृत्ति भी योग और रूढ़ि भेद से दो प्रकार की है। पद में प्रकृति और प्रत्यय रूप अवयवों की जो बोध रूप शक्ति है, उसका नाम योग शक्ति है, अथवा दो या दो से अधिक अवयवों का पृथक् २ बोध होते हुए योग (मेल) से जो बोध होता है, वह योग शक्ति है। जैसे पाचक (रसोई बनाने वाला) पद की पाक कर्त्ता रूप में योग शक्ति है। पच् धातु है, इसे प्रकृति भी कहते हैं, अक् प्रत्यय है, इन दोनों से पाचक शब्द सिद्ध होता है। इन दोनों अवयवों की शक्ति से पाक कर्त्ता पुरुष का बोध होता है। और जो पद में प्रकृति और प्रत्यय के समुदाय रूप अर्थ की बोध कराने वाली शक्ति होती है उसे रूढ़ शक्ति कहते हैं। शक्तिका ज्ञान पुरुषके व्यवहारसे होता है। जिस पदार्थ के उच्चारण के साथ उसकी क्रिया होती हुई देखी जाती है, उसके इस प्रकार के अभ्यास में आ जाने पर पदार्थ के देखते ही उसके शब्द का बोध होता है और शब्द के साथ पदार्थ का बोध होता है। जैसे, दो कड़ियों में से किसी एक को भी पकड़ने

से दूसरी भी पकड़ी जाती है; इसी प्रकार पद और पदार्थ दो कड़ियां हैं। पद–नामसे पदार्थ और पदार्थसे पद–नाम आता है। जहां जिस पदार्थ में जिसके नाम का व्यवहार होता है, वहां उस के नाम से, उस पदार्थ का स्मृति से बोध होता है।

ऊपर जो शक्ति वृत्ति कही है, उसका जो विषय है, उसको शक्य कहते हैं, और वाच्य भी कहते हैं। इस शक्य पदार्थ का लक्ष्यमान पदार्थ के साथ जो संबन्ध है, उसका नाम लक्षणा है। जैसे किसी एक पुरुष ने मंडप में बैठे हुए पुरुषोंको भोजन कराने के अभिप्राय से अपने मित्रों से कहा "मंडप को भोजन कराओ" इन वचनों को सुन कर सुनने वाला, मंडप में भोजन करने की योग्यता अशक्य है, ऐसा जान कर मंडप में बैठे हुए पुरुषों में लक्षणा करता है, वह समझता है कि मंडप में बैठे हुए पुरुषों को भोजन कराने को कहता है। मंडप पद का शक्य–वाच्य अर्थ जो गृह विशेष है उसका पुरुषों के साथ संयोग संबन्ध है, इसका नाम लक्षणा है अथवा वाच्य अर्थात् मुख्य अर्थ का होना असंभव दीखे–मुख्य अर्थ का बाध होजाय तब प्रयोजन के निमित्त मुख्य अर्थ अथवा पदार्थ से संबंध रखने वाला अन्य अर्थ जिस वृत्ति से मालूम हो उसे लक्षणा वृत्ति कहते हैं।

लक्षणा वृत्ति केवल लक्षणा और लक्षित लक्षणा ऐसे भेद करके दो प्रकार की है। पद के शक्य–वाच्य अर्थ का लक्ष्य अर्थ के साथ जो साक्षात् संबंध है, उसका नाम केवल लक्षणा है। वह जहत् लक्षणा, अजहत् लक्षणा और जहदाजहत् लक्षणा,

ऐसे तीन प्रकार की है। पद के शक्य (सीधे) अर्थ का त्याग करके उससे संबंध वाले अन्य पदार्थ में पद की जो लक्षणा वृत्ति है, उसका नाम जहत् लक्षणा है। जैसे किसी ने कहा "गंगा में घोसियों का ग्राम है" सुनने वाला समझता है कि गंगा जल का प्रवाह रूप है, जल में ग्राम का होना असंभव है, इसलिये गंगाके जल में ग्राम नहीं होगा किंतु गंगा के जल प्रवाह के किनारे पर ग्राम होगा। इस स्थान पर वह गंगा पद की किनारे में लक्षणा करता है। शक्य अर्थ जो गंगा है, उसके संबंध वाले किनारे के अर्थ में गंगा पद की लक्षणा वृत्ति है। जो गंगा पद के शब्दार्थ का त्याग कराती है, उसे जहत् लक्षणा कहते हैं।

जैसे किसी एक मनुष्य का मित्र है, मित्र २ होने से दोनों में आपस में पूर्ण परिचय है, दोनों एक दूसरे के शब्दों को भी पहिचानते हैं। एक मित्र दूसरे के यहां गया, उस समय उसके किवाड़ बंद थे, जब उसने किवाड़ खड़खड़ाये तब मकान वाले मित्र ने कहा "कौन है ?" बाहर खड़े हुए मित्रने कहा "कोई नहीं"। "कोई नहीं" की आवाज सुनकर मकान वाला विचारने लगा "किसी का भी न होना, यह उसका अर्थ है। बोलना तब ही होसक्ता है जब कोई होवे; किसी का होना निश्चय होता है, इसलिये मालूम होता है कि जिसने यह आवाज दी है, वह मेरा मित्र है।" इस प्रकार शब्दार्थ को छोड़ कर उसने शब्द के संबंध वाला-जो उसका मित्र है, उसमें लक्षणा की और किवाड़ खोल दिये। यह लक्षणा जहत् लक्षणा हुई। शब्दार्थ छोड़ कर उसके सम्बन्ध वाले मित्र का ग्रहण किया गया-समझा गया।

एक वैश्य प्रथम गरीब था इस कारण योग्य उमर होते हुए भी उसका विवाह न हुआ। वह विवाह करने की इच्छा वाला था परन्तु निर्धन होने से बिरादरी में से किसी ने अपनी कन्या न दी। संयोग वश धंधा करते २ वह श्रीमान् होगया। इस समय उसकी उमर पचास वर्ष उपरांत होगई थी। वह धन देकर के भी विवाह करना चाहता था। अन्त में एक परदेशी उसे मिला और एक कन्या से उसका विवाह भी होगया। न मिलते हुए कन्या मिली इसलिये उसने विशेष तलाश नहीं की कि वह कहां की है, इसका जानने पहिचानने वाला कौन है, परदेशी माता, पिता, भाई आदि बन कर आये थे। वे लोग पांच हजार रुपये लेकर कन्या का विवाह करके चले गये। वैश्य विवाह हो जाने से बहुत प्रसन्नता के साथ स्त्री के साथ रहने लगा। घर में वह अकेला था। एक साल तक दोनों आनन्द से रहते रहे। कन्या के विषय में शक होने का कारण किसी प्रकार न मिला। एक दिन वे दोनों स्त्री पुरुष रात्रि में सो रहे थे, बनियां अचानक जागा और स्त्री से पूछने लगा— "कितनी रात बाकी होगी ?" स्त्री अर्ध नींद में थी बोल उठी "अभी तो बहुत रात बाकी है ! आनन्द से एक जूता सी सके, इतनी रात है !" ऐसे कहती हुई वह फिर सो गई। बनिये ने स्त्री की बात सुनी, क्योंकि वह जाग्रत था। वह विचारने लगा "बनिये की लड़की इस प्रकार समय का माप नहीं बता सकती, हो न हो, यह स्त्री बनिये की लड़की नहीं है, अवश्य मोची की लड़की है, जिसके यहां जो काम होता है, उसी का सम्बन्ध बात चीत में भी

रहता है, उसके विवाह करने वाले पूरे ठग थे। वे मुझसे रुपये ले गये और मेरे ईमानको भ्रष्टकर गये। अब मैं सुवह निश्चय करके उसे निकाल दूंगा।" सुवह वनियेने स्त्रीको एक डाट वताई तब उसने स्वीकार कर लिया कि मैं मोची की लड़की हूं। मुझसे 'वनिये की लड़की हूँ' ऐसा कहने को और इसी प्रकार वर्तने को कहा गया था। मैं नींद में थी इसलिये इस प्रकार की वात मुख से निकल गई। वनियां भ्रष्ट हो ही चुका था। उसने प्रायश्चित्त किया और स्त्री को घर से निकाल दिया।

इस समय वनिये ने जो परीक्षा की थी, वह जहत् लक्षणा थी। "एक जूता सी सके इतनी रात है" यह वात जूता सीने वाली जाति के मुख से निकलती है, वनैनी के मुख से नहीं निकलती। वाक्य का त्याग करते हुए जिस जाति में वह होता है, उसका उसने ग्रहण किया। वाक्य के त्याग पूर्वक उसकी सम्वन्ध वाली जाति का ग्रहण जहत् लक्षणा है।

पदार्थ का शक्य (सीधा) अर्थ त्याग किये विना उसके सम्वन्ध वाले अन्य पदार्थ का ग्रहण रूप जो लक्षणा वृत्ति है उसका नाम अजहत् लक्षणा है। जैसे खाट पर वैठे हुए पुरुष का वोध करने के निमित्त किसी ने कहा "खाट वोलती है" इस प्रकार वचन सुन कर सुनने वाला पुरुष खाट में वोलने की अयोग्यता जानकर खाट पद की लक्षणा खाट सहित खाट पर वैठे हुए पुरुष में करता है। यहां खाट शब्द के शक्य अर्थ खाट

को त्याग किये विना खाट सहित खाट पर बैठे हुए पुरुष में लक्षणा वृत्ति है, इसको अजहत् लक्षणा कहते हैं।

जैसे दो मनुष्य एक रास्ते से आरहे हैं। वहां दूरसे एक लाल रंग का घोड़ा उनमें से एक ने दौड़ता हुआ आता देखा। दूसरे का लक्ष वहां न था, उसको दिखलाते हुए उस मनुष्य ने कहा "देख, वह लाल दौड़ा रहा है" दूसरे ने देखा तो लाल रंग का घोड़ा दौड़ता हुआ दिखाई दिया उसने विचार किया "लाल रंग में दौड़ने की शक्ति नहीं है परन्तु जिसमें लाल रंग है वह दौड़ रहा है इसलिये कहने वालेका मतलब 'लाल रंगका घोड़ा दौड़ रहा है' ऐसा है। यहां लाल रंगके संबन्ध युक्त जो घोड़ा उसका लाल रंग सहित ग्रहण है, इसीका नाम अजहत् लक्षणा है।

एक अंधे ऋषि अपने कुटुम्ब सहित अरण्य में रहते थे। उनका एक पुत्र और एक पुत्र वधू थी। वे स्त्री, पुरुष, पुत्र और पुत्र वधू मिल कर चार प्राणी थे! पुत्र की आयु कम थी। 'वह सोलह वर्ष होने पर सर्प के काटने से मर जाने वाला है' यह बात ऋषि को मालूम थी। पुत्र वधू का नाम सावित्री था, वह पतिव्रता स्त्री थीं। ऋषि पुत्र जंगल में लकड़ियां काटने जाया करता था। जिस दिन उसकी मृत्यु की खबर थी, उस रोज उसकी स्त्री उनके साथ जंगल में गई। ऋषि पुत्र एक तरफ लकड़ियां काट रहा था और दूसरी तरफ सावित्री लकड़ियां बीन रही थी। नियत समय पर लकड़ी काटते समय ऋषि पुत्र का पैर एक सर्प के बिल पर पड़ा, यह देख कर सर्प निकला

और पैर में काट खाया। ऋषि पुत्र क्षण भर में बेहोश होकर जमीन पर गिर गया। थोड़ी ही देर में विष सब शरीर में व्याप गया। पति को गिरा हुआ देख, सावित्री उसके पास दौड़ी और उसका शिर अपनी गोद में रख कर यम से प्रार्थना करने लगी। उसके पातिव्रत के प्रभाव की एकता युक्त दृढ़ प्रार्थना देख कर ऋषि पुत्र को लेने यमदूतों के बदले स्वयं यमराज आये, और सावित्री को प्रत्यक्ष दर्शन देकर बोले "तेरी प्रार्थना से मैं प्रसन्न हुआ हूँ, तुझे वरदान देने आया हूँ, तेरे पति की मृत्यु हुई है, वह सजीवन नहीं हो सकता, यदि तेरी इच्छा हो तो उसे सजीवन करने के सिवाय कोई एक ऐसा वरदान मांग ले जिससे तू इस जगत् में अपना जीवन भली प्रकार व्यतीत कर सके।" सावित्री हाथ जोड़ कर बोली 'हे यमराज पति सिवाय सब पदार्थ मेरे किस काम के हैं? मेरा तो ईश्वर या जो कुछ कहो पति ही है, आप कृपा कीजिये और पति को सजीवन करने का वरदान छोड़ कर अन्य वरदान देने का आग्रह न कीजिये!" यमराज बोले "हे बाले! उसके आयुका निर्माण इसी प्रकार है, मैं उसमें विघ्न रूप वरदान नहीं दे सकता, उसके जिलाने की बात छोड़ दे, जिलाने का शब्द छोड़ कर और वरदान जो तेरी इच्छा में आवे ऐसा लौकिक वरदान मांग ले।" सावित्री खिन्न होती हुई विचार कर बोली 'हे यमराज! आप प्रथम प्रतिज्ञा कीजिये, मैं पति के जिलाने का शब्द उच्चारण नहीं करूंगी, जो मैं मांगू वह आपको देना पड़ेगा!" यमराज ने यह बात स्वीकार करली। सावित्री बोली "मेरे श्वशुरजी अपने पोते को सुवर्ण

के थाल में भोजन करता हुआ देखें ऐसा वरदान दीजिये !" इस प्रकार का वरदान मांगने से सावित्री की चतुराई पर आश्चर्य करते हुए, वचन से बंधे हुए यमराज ने 'तथास्तु' कहा और ऋषि पुत्र को छोड़ कर अपनी राह ली ! सावित्री ने जो वरदान मांगा था, उसका यह भाव था:—श्वशुर देखें अर्थात् श्वशुर जो अंधे हैं वे देखने लगें। पोते को सुवर्ण के थाल में भोजन करता हुआ देखें, इसका मतलब यह था कि हमारा कुटुम्ब समृद्धिवान् हो क्योंकि श्रीमान् होने से ही सुवर्ण के थाल में भोजन हो सकता है। ऋषि के एक ही पुत्र है, दूसरा नहीं है, न होना सम्भव है, इसलिये जब मेरा ही पति सजीवन हो और मेरे पुत्र हो तब ही मेरे श्वशुर का पोता बने। मेरे श्वशुर देखने लगें, श्रीमान् हों, मेरा पति जी उठे और मेरे पुत्र हो इन चारों बातों की सिद्धि एक वरदान में होगई। पातिव्रत के प्रभाव, यमराज की प्रार्थना और कृपा से यह सब ही उसको प्राप्त हुआ। पति सजीवन हुआ, आनन्द पूर्वक उसे घर पर ले आई। घर समृद्धि से पूर्ण हुआ और श्वशुर की आंखें खुल गई, कुछ दिनों पीछे पोता हुआ और सुवर्ण के थाल में खाता हुआ देखा। ये चारों बातें सिद्ध हुई।

"मेरे श्वशुरजी अपने पोते को सुवर्ण के थाल में भोजन करता हुआ देखें" इस वाक्य में पोता वाच्यार्थ, है, मरे हुए पति से पुत्र होना असम्भव है इसलिये 'पोते की सिद्धि के लिये ऋषि पुत्र का जीवित दशामें रहना लक्ष्यार्थ है। पोते के साथ

उसके पिता का भी ग्रहण है। वाच्यार्थ को न छोड़ते हुए वाच्य से सम्बन्ध वाला जो ऋषि पुत्र है, उसका भी ग्रहण है, यह अजहत् लक्षणा हुई। यहां वाच्यार्थके सम्पूर्ण ग्रहण सहित अधिक का ग्रहण है।

जहां पद के शक्य (सीधे) अर्थ के एक अंश का त्याग करके उसमें रहने वाले दूसरे अंश का ग्रहण हो उसका नाम जहदाजहत् लक्षणा है, इसको भाग त्याग लक्षणा भी कहते हैं। जैसे किसी पुरुष ने कहा "यह वह देवदत्त है" इस वाक्य को सुन कर यह और वह दोनों पदों का त्याग करके एक देवदत्त में ही लक्षणा है। इस देश, काल, अवस्था वाला 'यह' पद है और उस देश काल, अवस्था वाला 'वह' पद है। यह और वह के जो शक्यार्थ हैं उनकी एकता होना असम्भव है क्योंकि उन दोनों के देश, काल में बहुत अंतर है। दोनों देश, काल, अवस्था वाले अंशों का त्याग करके देवदत्त के शरीर रूप अंश में इस वाक्य की लक्षणा वृत्ति है, इसको जहदाजहत् लक्षणा कहते हैं। इस प्रकार भेद अंश के त्याग पूर्वक दोनों में रहने वाले देवदत्त की एकता है। यह लक्षणावृत्ति चारों वेदों के महा वाक्यों में जीव ईश्वरकी एकता का बोध कराने वाली है। महा वाक्यों में जहत् लक्षणा सम्भव नहीं है और अजहत् लक्षणा भी सम्भव नहीं है, केवल जहदाजहत् अर्थात् भाग त्याग लक्षणा का ही उपयोग है। जहत् लक्षणा में सारे वाच्यार्थ का त्याग होने से तत्त्वमसि आदि में अनर्थ होगा और अजहत् लक्षणा से भी उपाधियों के ग्रहण

सहित योग्य अर्थ न होगा। इसलिये तत्त्वमसि आदिक महावाक्यों का ठीक २ अर्थ भाग त्याग लक्षणा से ही करना पड़ेगा।

एक विद्वान् ब्राह्मण एक दिन रात्रि को शय्या में पड़ा हुआ जाग रहा था। उसने छप्पर में से नीचे की तरफ एक रस्सी लटकती हो इस प्रकार देखी। क्षण २ में वह बढ़ती गई और मालूम हुआ कि एक बड़ा सर्प है। वह घबराता हुआ उठ खड़ा हुआ और अपनी स्त्री, पुत्र और पुत्री को जगाना चाहता था कि इतने में सर्प उन तीनों को काट कर चल दिया। वे तीनों मर गये। विद्वान् बहुत दुखी हुआ और बहुत घबराया। फिर वह विचारने लगा "अब यहां रहने की क्या आवश्कता है।" उसने सर्प को गैया के स्थान पर जाते देखा था, वह वहां गया तो सर्प देखने में न आया परन्तु एक शेर दिखाई दिया वह गैया को उठा कर चल दिया। विद्वान् ने अपने आत्मिक जनों की अन्तिम क्रिया भी न की और वह अरण्य में चल दिया, कई कोश निकल गया तब सूर्य उदय हुआ। विद्वान् घबराहट और थकन से शिथिल होकर एक वृक्ष के नीचे बैठ गया, वहां उसने अपने सामने एक मनुष्य को खड़ा हुआ देखा और उससे पूछा "कौन है?" खड़े हुए मनुष्य ने उत्तर न देते हुए कहा "तू कौन है?" ब्राह्मण ने कहा "मैं विद्याधर नाम का ब्राह्मण हूं, गई रात को मेरी स्त्री, पुत्र और पुत्री का सर्प के डसने से स्वर्गवास हुआ और मेरी गैया को एक व्याघ्र ले गया, इस दुःख से मैं अरण्य में भटक रहा हूं, तू कौन है?" उस खड़े हुए पुरुष ने कहा "मैं

दूसरा कोई नहीं हूं, वह सर्प और व्याघ्र मैं ही हूँ।" विद्याधर आश्चर्य करता हुआ बोला "तब तू मनुष्य रूप में कैसे दीख रहा है ? तेरा नाम क्या है ?" उस मनुष्य ने कहा "मेरा नाम मृत्यु है, मैं अनेक रूप से दीखता हूँ, सब सृष्टि में भ्रमण करता हूँ; जिसका जिस प्रकार मरण होने वाला होता है उसका मरण उसी प्रकार करता हूँ !" विद्याधर बोला "तेरे कहने से मालूम होता है कि मेरे कुटुम्ब और गैया का मारने वाला तू ही है, तूने सबको मार डाला, मुझे क्यों जीता रक्खा ?" मृत्यु बोला "तेरे मरने का यह काल नहीं है, तेरी मृत्यु इस प्रकार निश्चित भी नहीं हुई है; जब तू गंगा में कमर कमर पानी में पहुँचेगा तब एक मगर से तेरी मृत्यु होगी !" यह कहकर मृत्यु अदृश्य होगया।

"वह सर्प और वह व्याघ्र मैं हूँ।" इसमें वह सर्प और वह व्याघ्र इन दोनों के स्वरूप का त्याग करके, उस निमित्त से रहे हुए मृत्यु के मैं का जो ग्रहण है, उसका नाम भाग त्याग लक्षणा है, सर्प और व्याघ्र में विरुद्धता है, सर्प और व्याघ्र की मनुष्य से विरुद्धता है परन्तु तीनों में रहने वाला मृत्यु रूप चेतन एक है, इन तीनों की एकता उस एक में ही होती है।

विद्याधर ब्राह्मण आगे चला और एक शहर में पहुंचा वहां एक उत्सव हो रहा था, अनेक देशों से आये हुए विद्वान् लोग राजा से सीधा सामान प्राप्त कर अपने भोजनों की व्यवस्था में लग रहे थे। विद्याधर भी स्नान, संध्या आदि से निवृत्त

होकर अपने लिये भोजन बनाने लगा। भोजन के बाद राज दरबार में पण्डितों की सभा हुई, जहां शास्त्रार्थ हो रहा था विद्याधर ने वहां जाकर शास्त्रार्थ में भाग लिया। राजा ने उसकी विद्वत्ता से मुग्ध होकर उसको सभा का मुख्य पण्डित नियत किया। विद्याधर ने बहुत समय तक राजा के साथ रह कर आनन्द में दिन व्यतीत किये। थोड़े दिन में राजा के पुत्र हुआ। जब वह बड़ा हुआ तब उसके पढ़ाने का कार्य भी विद्याधर को दे दिया गया। कुंवर विद्याधर पर बहुत प्रेम रखता था। जब वह चौदह वर्ष का हुआ तब राजा को गंगा स्नानकी इच्छा हुई। विद्याधर ने यह जानकर कि मुझे भी राजा के साथ जाना पड़ेगा, राजा से कहा "महाराज! आपकी इच्छा गंगा तीर पर निवास करने की और गंगा स्नान करने की हो तो आप जाइये, मैं नहीं जा सक्ता क्योंकि मैंने गंगा के तीर पर न जाने का दृढ़ निश्चय किया है।" राजा ने कहा "ऐसा निश्चय किस कारण किया है?" विद्याधर बोला 'जो मैं गंगा के समीप के देश में जाऊंगा तो मेरी मृत्यु अवश्य होगी! यह मेरा निश्चय है, इसलिये काल के मुख में जाने की मैं इच्छा नहीं करता।" राज कुंवर ने हठ की कि यदि गुरुजी नहीं चलेंगे तो मैं भी नहीं जाऊंगा, चाहे जो कुछ हो गुरुजी को हमारे साथ चलना ही चाहिये। राजा ने आग्रह पूर्वक कहा "पूज्य महाशय! आपको हमारे साथ चलना ही पड़ेगा! मैं आपकी इच्छानुसार सब व्यवस्था करदूंगा" अन्त में विद्याधर को राजा के साथ जाना ही पड़ा! राजा ने गंगा के निकट एक भव्य स्थान बनाया और उसमें अपने मनुष्यों

सहित आनन्द से रहने लगा। राज कुमार जहां जाता वहां विद्याधर को साथ ही ले जाता था, उसे छोड़ कर वह अकेला कहीं न जाता। एक दिन राजकुमार अपने पिता से बोला "पिता जी! मुझे गंगाजी स्नान करने की इच्छा है आप आज्ञा दीजिये!" राजा ने कहा "पुत्र! आनन्द से गंगा स्नान करो।" इस प्रकार कह कर राजा ने अपने अनुचरों को साथ जाकर, संभाल पूर्वक स्नान करा लाने की आज्ञा दी।

सब स्नान करने को चले। राजकुमार ने देखा तो उसका गुरु विद्याधर कहीं दिखाई न दिया, तब उसने पिता के पास जा कर कहा "पिताजी! जो मेरे गुरु मेरे साथ गंगा स्नान करने नहीं जायंगे तो मैं अकेला गंगा में कभी भी स्नान न करूंगा।" राजा ने अनुचरों द्वारा विद्याधर को बुलवाया और राजकुमार के साथ गंगा स्नान करने जाने की प्रार्थना की। विद्याधर बोला "महाराज! मैंने आपसे प्रथम ही कह दिया है, कि मैं कभी भी गंगा स्नान करने नहीं जाऊंगा, मैं जो वहां जाऊंगा तो मगर आकर मुझ को मार डालेगा! क्या आप मुझे मरा हुआ देखना चाहते हैं? (राजकुमार से) तू यह हठ छोड़ दे, अकेला जाकर स्नान कर आ।" राजकुमार ने हठ न त्यागी और विना विद्याधर के साथ चले गंगा स्नान करने की साफ मना कर दी। राजकुमार की हठ होते हुए भी विद्याधर को स्नान करने जाने की किंचित भी इच्छा न थी। राजकुमार अपनी हठ नहीं छोड़ता, यह जान कर राजा विद्याधर से बोला "पूज्य महात्मन्! कृपा करके आप राजकुमार के साथ जाइये, मैं आपको

सब प्रकार के भय से सुरक्षित रखने की व्यवस्था करता हूँ (अनुचरों से) देखो, गंगा के प्रवाह में जिस स्थान पर यह विद्वान् महात्मा और राजकुमार स्नान करने को जांय, उस स्थान को एक मजबूत जाल से घेर लेना, जल में चारों तरफ सैनिक घोड़े सवार खड़े रहें, किनारे पर भी शस्त्रधारी सैनिक खड़े रहें और खास करके यह विद्वान् गुरुजी जब जल में उतरें तब उनके आस पास रह कर खास संभाल रखना, सबका ध्यान बराबर उनके ही ऊपर रहे !"

राजा की आज्ञा का यथार्थ रीति से अक्षरशः पालन किया गया। विद्याधर और राजकुमार गंगा में स्नान करने गये। राजा की आज्ञानुसार रक्षक दोनों को आस पास घेरे खड़े रहे। धीरे २ विद्याधर के हृदय का भय कम हुआ देखकर राजकुमार बोला "गुरुजी ! मैं राजकुमार नहीं हूँ, किन्तु वह ही मृत्यु हूँ !" इस वाक्य के साथ ही राजकुमार का शरीर अदृश्य होगया और एक मगर खड़ा होगया ! उसने विद्याधर को पकड़ लिया, उसे पकड़ कर पानी में ले गया और एक निमेष में गुप्त होगया। रक्षक राजकुमार का गुम होना देखकर आश्चर्य में पड़े और रोते पीटते उन्होंने राजा के पास जाकर सब वृत्तान्त कहा। तब राजा शोक करता हुआ बोला—

दोहा।

'मामा जिसके कृष्णजी, अर्जुन जिसका बाप।
सो अभिमन्यु रण में मरा, मिटे न भावी पाप ॥

जो सर्प था, जो व्याघ्र था, जो मनुष्य था, जो राजकुमार था, और जो मगर था, वह ही मृत्यु था। सबके नाम, रूप का त्याग और मृत्यु रूप शक्ति का ग्रहण भाग त्याग लक्षणा है। इस प्रकार उन सबकी एकता होती है।

पद के शक्य अर्थ के साथ, जो लक्ष्य अर्थ का परम्परा संबंध होता है, उसका नाम लक्षित लक्षणा है। जैसे भ्रमर शब्द करता है, इस अर्थ का बोध करने के लिये किसी ने कहा "दो रकार बोलता है" दो रकार शब्द की योजना भ्रमर शब्द में है, भ्रमरमें दो रकार हैं। दो रकार शक्य अर्थ है, और भ्रमर उसका लक्ष्यार्थ है। भ्रमर शब्द के साथ मधुकर शब्द का साक्षात् संबंध संभव नहीं है परन्तु भ्रमर में दो रकार का संबंध और भ्रमर पद का मधुकर व्यक्ति के साथ संबंध है। इस प्रकार दो रकार से बना हुआ वाच्यत्व रूप परंपरा संबंध मधुकर व्यक्ति है। यह शक्यार्थ के परंपरा संबंधसे लक्षित लक्षणा कहलाती है। इस लक्षणाका भी तत्त्वमसि आदिक महावाक्योंमें उपयोग नहीं है।

देवदत्त सिंह है, इस वाक्य में देवदत्त नाम के पुरुष में सिंह की गौणी वृत्ति है। यह गौणी वृत्ति लक्षणा वृत्ति से भिन्न सिद्ध नहीं होती किंतु लक्षित लक्षणा के अन्तर्भूत है। सिंह पद के शक्य अर्थ का देवदत्त पुरुष के साथ स्ववृत्ति रूप क्रूरता आदि वाला परंपरा संबंध है। यह गौणी वृत्ति लक्षित लक्षणा के अन्तर्भूत है। इस प्रकार पुरुष को शक्ति वृत्ति और लक्षणा वृत्ति से ज्ञान होता है।

तत्त्वमसि ।

ऋक्, यजुः साम और अथर्व चार वेद हैं। उनमें कई-एक महा वाक्य हैं परन्तु एक २ वेद का मुख्य एक २ महावाक्य है। चारों वेदों में साम वेद की विशेषता है क्योंकि वह सब से अन्तिम है और उसमें ज्ञान का भाव भी विशेष है; अथर्व वेद तीनों का सार रूप और चौथा है परन्तु विशेषता साम वेद की ही है। साम वेदका महावाक्य तत्त्वमसि है। गुरु शिष्यको योग्य देख कर अन्त में 'तत्त्वमसि' का उपदेश करते हैं। उस उपदेश से ही शिष्य को ब्रह्म का अपरोक्ष बोध होता है। जो वाक्य जीव ब्रह्म की अभेदता का बोधक हो वह महा वाक्य है। यद्यपि चारों वेदों के चार महावाक्य हैं वे सभी जीव ब्रह्म की अभेदता के बोधक हैं तो भी जैसा बोध तत्त्वमसि सें स्पष्ट युक्ति पूर्वक होता है ऐसा दूसरों से नहीं होता इसलिये महावाक्यों में तत्त्वमसि प्रसिद्ध है। तत्त्वमसि का सामान्य अर्थ 'वह तू है' ऐसा होता है। वह ब्रह्म के लिये और तू जीव के लिये है। भावार्थ यह हुआ कि जो ईश्वर है सो ही तू जीव है। ईश्वर और जीव भिन्न २ नहीं हैं। यदि सामान्य लोगों के सामने इस प्रकार कहा जाय तो वे लोग इस प्रकार कहने वालेको नास्तिक समझेंगे और बात भी यह ही है कि अनधिकारियों से इस प्रकार कहना नास्तिक भाव का उत्पन्न करने वाला ही है इस लिये इस महा-वाक्य का उपदेश गुरु समय पाकर योग्य शिष्य को ही करते हैं अन्यथा उनका उपदेश हानि रूप होता है। जिस में विशेष

ताकत होती है उसमें हानि भी विशेष होती है, ऐसा नियम है इसलिये महान् ताकत वाले तत्त्वमसि महावाक्य के उपदेश को जो वाचकता में न डाल दे इस प्रकार के शिष्य को उसका उपदेश दिया जाता है। तत्त्वमसि महावाक्य आत्मज्ञान का रहस्य रूप, वेद का सार रूप, वेदांत का तत्त्व रूप, अनेक जन्म जन्मांतर की आपत्तियों को निवारण करने वाला, अविद्या जाल से मुक्त करने वाला और स्वरूप की प्राप्ति रूप है। तत्त्वमसि के रहस्य को गुप्त रखने की आवश्यकता है इसीलिये जैसे और वाक्यों को सीधा अर्थ करने से समझ लिया जाता है, ऐसे सीधे अर्थ से तत्त्वमसि का अर्थ समझने में नहीं आता क्योंकि उसमें लक्षणा द्वारा लक्ष पहुँचाने का है। ऐसे लक्ष पहुंचाने वाले उत्तम अधिकारी का ही यह विषय है, सामान्य मनुष्य का नहीं है। सामान्य मनुष्य 'तत्त्वमसि' सुन कर उसके रहस्य को ग्रहण नहीं कर सकता इसलिये उससे इस गुप्त रहस्य को गुप्त रखने के लिये 'तत्त्वमसि' की योजना की गई है।

महावाक्य समझने के लिये बुद्धि की तीव्रता और निर्मलता दोनों की आवश्यकता है क्योंकि निर्मलता बिना ग्रहण नहीं किया जायगा और तीव्रता बिना समझा नहीं जायगा। यदि किसी की बुद्धि तीव्र होगी और निर्मल न होगी तो वह समझने में समर्थ होगा परन्तु ग्रहण नहीं कर सकेगा और जिसकी बुद्धि तीव्रता रहित निर्मल होगी तो वह भक्ति के जोर से ग्रहण करने में काट छांट किये बिना भी कुछ समझ कर ग्रहण कर सकेगा।

निर्मलता वाला ब्रह्मनिष्ठ होता है और तीव्रता वाला विद्वरिष्ठ होता है। विद्वत्ता रहित ब्रह्मनिष्ठ स्वकल्याण में समर्थ होता है परन्तु उत्तम अधिकारी के सिवाय औरों के कल्याण कराने में समर्थ नहीं होता। ब्रह्मनिष्ठता रहित विद्वरिष्ठ वाचक है। वह अपना कल्याण नहीं कर सकता और दूसरों के कल्याण कराने में भी समर्थ नहीं होता। जब तत्त्वमसि महावाक्य का श्रवण युक्तिपूर्वक लक्ष पहुंचाते हुए किया जाता है तब ही सार्थक होता है। यह महावाक्य विद्या है। महावाक्य विद्या, अधिकारी, संयोग, वियोग, प्रसंग, परापूर्व ज्ञान, निश्चय, भक्ति, अपेक्षा आदिक सहित ही प्राप्त होती हैं। इनके विना महावाक्य विद्या सिद्ध नहीं होती—उसका यथार्थ फल नहीं होता।

दो ज्योतिषी काका भतीजे धंधे के अर्थ अपने ग्राम से उज्जैन नगरी में आ रहे थे। काका ज्योतिष पढ़ा हुआ तो था परन्तु गुना नहीं था, आसपास के संयोगों का मिलान करके ज्योतिष का फलादेश नहीं कहता था, ग्रन्थ में पढ़े हुए के अनुसार एक बात देख कर ही कह देता था इस लिये उसका कहा हुआ बहुधा ठीक नहीं बैठता था। भतीजा पढ़ा हुआ होकर सब संयोगों के साथ में विद्या का उपयोग करता था इसलिये उसका कहा हुआ फलादेश मिल जाता था। उसका यह निश्चय था कि उसके आसपास के संयोग का लक्ष रक्खे विना ज्योतिष विद्या फलदायक नहीं होती।

जब दोनों शहर में दाखिल होने को थे तब काका बोल उठा "भतीजे! आज हमको खीर का भोजन प्राप्त होगा क्योंकि सामने इमली के वृक्ष की डाली पर बैठे हुये चाष पक्षी का दर्शन हो रहा है। उसे बांई तरफ़ रखने के लिये इमली की दहनी तरफ घूम कर हमें चलना चाहिये।" दोनों घूमकर चले भतीजा बोला "काका जी! तुम कहते हो सो सच है, हमको खीर का भोजन अवश्य मिलेगा परन्तु बहुत भटकने के बाद मिलेगा और खीर भी खट्टी होगी!" काका क्रोधित होकर बोला "तू अपनी आदत नहीं छोड़ता! मेरे भविष्य में खोट ही निकाल देता है! देखा जायगा, क्या सच होता है।" दोनों नदी के किनारे पहुंचे। बड़ी २ पगड़ियां और उनमें टीपन लगा हुआ होने से देखनेवालों को सहज हीं में मालूम हो जाता था कि ये कोई ज्योतिषी हैं। एक ब्राह्मणी नदी से जल का मटका भर कर आरही थी। वह ज्योतिषियों को आता हुआ देख कर खड़ी हो गई और कहने लगी "महाराज! मेरे एक प्रश्न का उत्तर दीजिये, दश मास हुए मेरे पति बाहर गये हुए हैं, उनके आने का पत्र भी आ चुका है परन्तु उन्होंने अपने आने का जो दिन लिखा था उसे बीते हुए आठ दिन हो गये, वे कब आवेंगे? आज के उत्सव के दिन आवेंगे या नहीं?" काका को उसका कहा हुआ 'नहीं' शब्द अच्छा न लगा, क्या उत्तर देना चाहिये, यह विचारने लगा। इतने ही में ब्राह्मणी के शिर के ऊपर का मटका टूट गया, किनार उसके हाथ में रह गई और फूटे हुए मटके का जल बह कर नदी में मिल गया। ब्राह्मणी मटका फूटने से पीली पड़ गई परन्तु

उत्तर के लिये खड़ी रही। काका को प्रश्न अच्छा न लगा, उस का उत्तर उसने शुभ न समझा और ग्राम में प्रथम ही अनिष्ट भविष्य कहना उसे ठीक न लगा तो भी वह बोला "हाल में तेरे पति के आने में विघ्न पड़ गया है।" ज्योतिषी का ऐसा वचन सुनकर ब्राह्मणी स्तब्ध हो गई और निराशा के उत्तर से उसके नेत्रों में जल भर आया। भतीजा ऐसा देखकर बोला "बहिन! तू दुखी क्यों होती है? मैं कहता हूं कि तेरा पति आज ही पर-देश से घर पर लौट आवेगा और बहुत धन भी लावेगा। कष्ट पाकर कुछ देर से आवेगा परन्तु रात्रि को तुम दोनों आनन्द से अवश्य मिलोगे!" ब्राह्मणी बोली "भाई! तेरे मुख में मिसरी! जो आज मेरा पति देर में भी आवेगा तो मैं तुम दोनों को खीर पूरी खिलाऊंगी। तुम कहां टिके हो सो बताओ, मैं तुम्हें वहां से भोजनों के लिये बुला ले जाऊंगी।" भतीजे ने सामने की एक धर्मशाला बतादी।

ब्राह्मणी घर पहुंची और पति के आने की उमंग में बाजार से दूध आदिक सामान लेकर, खीर पूरी का भोजन बनाकर पति के आने की राह देखने लगी। काका को भतीजे का बीच में बोला हुआ शब्द अच्छा नहीं लगा। ब्राह्मणी के जाने के बाद वह कुछ कुढ़ा और बोला "भतीजे! बैठे रहने से कुछ काम नहीं चलेगा, तू ग्राम में जा और किसी के यहां का न्योता ले आ, अथवा कहीं से सीधा ही ले आ" भतीजा बोला "काका जी! मैं जाने को तैयार हूं परन्तु मेरा निश्चय है कि कितना भी प्रयत्न

क्यों न किया जाय, शाम तक भोजन मिलना नहीं है, शाम को मेरे भविष्य के कथन के अनुसार पनिहारिन ब्राह्मणी के यहां ही हमारा भोजन होगा !" काका यह बात सुनकर क्रोधित होने लगा। उसे क्रोधित देखकर भतीजा वहां से चला और मुहल्लों में घूमने लगा परंतु उसे कुछ न मिला और अन्त में घूम घाम कर खाली हाथों ही स्थान पर लौट आया। उसे खाली हाथ आया हुआ देखकर काका बोला "अन्त में तूने अपने मन का ही काम किया। बूढ़े काका को भूखा रख कर तू अपना ही पेट भर आया। इतनी देर तुझे कहां हुई ?" भतीजा नम्रता पूर्वक कहने लगा, "काकाजी ! शांत होकर मेरी बात सुनिये, आपको छोड़ कर मैं भोजन कर आऊँ, भला यह कैसे बन सक्ता है। आप जानते ही हैं कि अब कलियुग आगया है, लोगों में श्रद्धा नहीं रही है, थोड़ी बहुत श्रद्धा है तो स्त्रियों में ही है, वे सब जल भरने और देव दर्शन को चली गई हैं। मैं कहां २ पर घूम कर आया हूँ सो सुनोः—

प्रथम मैं त्रिपाठी मोहल्ले में गया, वहां जाकर मैंने न्योते की याचना की, किसी ने मेरी बात न सुनी, सब चुप होगये, कोई बोला 'आगे जाओ'। वहां से मैं देवपाड़े में गया, वहां भी ऐसा ही हुआ। फिर मैंने पंड्याशेरी, व्यास मोहल्ले और मिश्र मंडी में चक्कर लगाया। इन सब स्थानों पर मुझ पर धक्के ही पड़े। फिर मैं यह सोच कर कि कोई सती सीधा ही दिलादे, वैश्य मोहल्ले में गया, वहां किसी ने सीधा भी न दिया कि रसोई बन जाती, मेरा सब परिश्रम व्यर्थ गया ! शाम तक फिरते २ थक गया, अन्न देवता प्रसन्न न हुए !"

सायंकाल को पनिहारी ब्राह्मणी धर्मशाला में गई और कहने लगी "महाराज ! तुम्हारा कल्याण हो। मेरे पति इसी समय परदेश से आये हैं। यहां से जाकर ही मैंने भोजन तैयार कर रक्खा है। पतिकी राह देखते २ इतनी देर हो गई कि रसोई भी ठण्डी हो गई है। वे दो दिनके भूखे हैं। आप चलिये और भोजन कीजिये। आपके भोजन करने के बाद ही वे भोजन करेंगे। महाराज! आपने कहा था वह ही सच हुआ। कुछ रत्न लेकर वे आ रहे थे। मार्गमें लुटेरे मिल गये। उनको देख कर वे एक वृक्ष के कोटर में घुस बैठे। जंगल में रात्रि पड़ गई, वहां ही पड़ा रहना पड़ा। दूसरे दिन चलने के समय लुटेरे फिर दिखाई दिये इसलिये फिर छुप रहे। दो दिन से कुछ खाया नहीं है परन्तु कष्ट भोगकर धन सहित आ पहुंचे हैं। चलिये, भोजनों के लिये जल्दी चलिये।" दोनों भोजनों के लिये गये। वहां जाकर भोजन किया तो मालूम हुआ कि खीर खट्टी हो गई है। इस प्रकार दोनों प्रश्नों का भतीजे का दिया हुआ उत्तर ठीक २ मिला।

काका ने मात्र ऊपर के भाव से ज्योतिष का कथन किया था और भतीजे ने संयोग के मिलान सहित लक्ष पहुंचा कर फल कहा था। इमली पर चाष-दर्शन से खीर और इमली का गुण खट्टा बताया था, घूम के जाने के भाव से भटक कर देरी से भोजन मिलने को कहा था। इसी प्रकार जल का मटका फूटने से आपत्ति का लक्ष किया था और अखंडित किनारा हाथ में रहने से नुकसान रहित, ठीकरियां बहुत होने से धन सहित और

जल में जल मिलने से देरी से स्त्री पुरुष के मिलान का लक्ष्य किया था। जैसे संयोगों के साथ लक्ष्य किये विना ज्योतिष विद्या निष्फल होती है। इसी प्रकार तत्त्वमसि महावाक्य में भी योग्य गुरु, अधिकारी शिष्य, उपदेश का प्रसंग, उपाधि का वर्णन उपाधि का त्याग, चैतन्य का लक्ष और चैतन्य का ग्रहण इन सबका विचार करके जीव ब्रह्म की हुई एकता ही मोक्ष देने वाली होती है। तत्त्वमसि महावाक्य छोटा होते हुए भी भावार्थ से भरा हुआ और सब शास्त्रों का सारांश रूप है। उसे ग्रहण करने की जिसमें ठीक ठीक शक्ति होती है वह ही उससे लाभ उठा सकता है। भतीजे के समान अर्थ करने वाले को ही उसका यथार्थ फल प्राप्त होता है और काका के समान तत्त्वमसि वह तू है ऐसा शब्दार्थ करने से मोक्ष की सिद्धि नहीं होती।

आत्म कृपा, ईश्वर कृपा और गुरु कृपा जब तीनों सम्मिलित होती हैं तब 'तत्त्वमसि' महावाक्य से बोध होता है। जब दयालु गुरु शिष्य को योग्य समझकर करुणा दृष्टि करके महावाक्य का उपदेश करते हैं तब आत्मा का जैसा अपरोक्ष ज्ञान होता है वैसा अपनी बुद्धि से किये हुए विचार से नहीं होता। श्रुति का भी यह ही कहना है कि गुरु द्वारा ज्ञान प्राप्ति होती है इसलिये मुमुक्षुओं को गुरु से ही महावाक्य का उपदेश लेना चाहिये। जिसने पंच-कोशादिक का विचार करके विवेक किया है और जिसको सब स्थान पर आत्मा परोक्ष भासता है उसको आत्म साक्षात्कार के

लिये महावाक्य का ही विचार कर्तव्य है, इसके विना आत्म साक्षात्कार नहीं होता। बहुत करके लौकिक और वैदिक वाक्यों में जो विधि वाक्य हैं, जो अन्य प्रमाण से अप्राप्त अर्थ को प्राप्त कराने वाले हैं। जैसे "स्वर्ग की इच्छा वाले को अग्निहोत्र से यजन करना इत्यादि वाक्य अप्राप्त स्वर्ग की प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति कराने वाले हैं परन्तु नित्य सिद्ध ब्रह्मको प्रकाश करने वाले केवल तत्त्वमसि आदिक महावाक्य हैं। विधि वाक्य ही प्रवृत्ति का हेतु है, ऐसा नहीं है किंतु इच्छा की हुई वस्तु का ज्ञान भी प्रवृत्ति का कारण है जैसे 'राजा है' ऐसा जान कर मनुष्य राजा के दर्शन करने को प्रवर्त होता है। यह विधि वाक्य नहीं है तो भी प्रवृत्ति कराता है परन्तु महावाक्य तो विधि निषेध, प्रवृत्ति अप्रवृत्ति से रहित आत्मबोध का प्रकाशक है इसलिये योग्य अधिकारी को 'तत्त्वमसि' महावाक्य को गुरु द्वारा सुनना चाहिये।

शंकाः—आत्मा को तो इन्द्रिय, मन और बुद्धि का अविषय शास्त्रों में कहा है। ऊपर कहा है कि 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सुनने से आत्माका बोध होता है। जब सुनने से जाना जाता है-ज्ञान होता है तब आत्मा इन्द्रिय आदिका अविषय न रहा। यदि वह इन्द्रियादिक का अविषय ही है तो श्रवण किया हुआ बोध-ज्ञान आत्मा का बोध न हुआ किन्तु किसी मिथ्या वस्तु ही का हुआ।

समाधानः—महावाक्य के श्रवण से बोध रूप फल की नई उत्पत्ति नहीं होती किंतु श्रवण अज्ञान का निवर्तक है, यह ही

श्रवण की सामर्थ्य है। अज्ञान की निवृत्ति होकर जो बोध रहा वह आत्म बोध है इसलिये तेरे कहे अनुसार श्रवण इन्द्रिय ज्ञानोत्पादक नहीं है इसलिये इन्द्रियादिक का अविषय होते हुए भी आत्मा का बोध होता है और तूने जो कहा कि किसी मिथ्या वस्तु का बोध होता होगा यह बात भी नहीं है क्योंकि अज्ञान की निवृत्ति के साथ समग्र मिथ्यापने की निवृत्ति होजाती है, आत्मा ही शेष रह जाता है तब आत्मा जाना जाता है इसलिये बोध मिथ्या नहीं है और सुनने से होने पर भी सुनने का विषय रूप नहीं है किंतु अबोध की निवृत्ति का विषय रूप ही है क्योंकि बोध स्वतः सिद्ध है जैसे किसी एक पुरुष ने दूसरे से कहा कि अमुक स्थान पर पत्थर के नीचे धन है। पत्थर उठा लेने से धनकी प्राप्ति होगी। अब दूसरे पुरुष ने 'पत्थर को उठा लेना' यह ही श्रवण किया है। पत्थर से ढका हुआ धन देखने में नहीं आता था जब पत्थर उठा लिया जाता है, तब धन दीख पड़ता है और लेने वाला जब धन को उठा लेता है तब धन मिला ऐसा कहा जाता है इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य अज्ञान के पत्थर को हटाने वाला है। अज्ञान रूप पत्थर के हटनेसे आत्मा रूप धन प्रकाशित होता है। जैसे मनुष्य को पत्थर से ढके हुए धन को लेने की आवश्यकता पड़ी थी इस प्रकार आत्म धन को उठा लेने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि आत्मा स्वयं ही है। इस युक्ति से ही महावाक्य आत्मबोध का जनक कहने में आता है। तत्त्वमसि महावाक्य के पदों को समझना चाहिये, उनके भिन्न २ अर्थ भी समझने चाहिये और अर्थ में वाक्यार्थ और शब्दार्थ

का बोध करना चाहिये केवल शब्दार्थ जानने से बोध नहीं होता किंतु गुरु उपदेशानुसार भाग त्याग विधि से शोधन करके ग्रहण करना आवश्यक है।

एक श्रीमान् पुरुष को विचार हुआ कि मेरे पास धन बहुत है, इसमें से कुछ धन गुप्त रूप से छुपा रक्खूँ कि किसी समय काम आवे। यदि मेरे काम में न आया तो मेरे वारिसों के काम में आ जायगा। ऐसा विचार कर उसने परदेश में दस मन सुवर्ण खरिदवा कर एक संदूक बनवाया और उसके ऊपर लोहे का रंग करवाकर उसे अपने भंडारकी कोठरी में गड़वा दिया। भंडार की कोठरी के एक कोने पर एक ताम्रपत्र लिखकर दीवार पर लगवा दिया। पश्चात् वह साहूकार बद्रीनारायण की यात्रा को चला गया। पूर्व समय में मार्ग बहुत विकट था और वहांका वायु भी वनस्पतियोंके विकार वाला था। जो मनुष्य यात्रा करने जाता था बहुत कर के लौटकर नहीं आता था। जब कोई यात्रा करने जाता था तब अपने घर का सब प्रबंध करके जाया करता था। इसी प्रकार साहूकार भी धन, जागीर, रत्न आदिक सब लड़कों को सुपुर्द करके यात्रा को गया और यात्रा से लौटते ही उसका मृत्यु होगया। लड़के बड़े २ थे उन्होंने सब काम काज संभाल लिया और कई वर्ष तक उनका काम बहुत अच्छी प्रकार चलता रहा। सब दिन एक समान नहीं रहते। लड़कों को नुक-सान पर नुकसान होने लगा, घरके मनुष्य भी मरने लगे, जमीन जागीर भी बेचनी पड़ी और रत्न आदिक भी क्रम २ से सब निकल गये। एक लड़का रह गया, पास कुछ रहा नहीं इसलिये उसे और लोगों से कर्ज लेना पड़ा। कर्ज चुक न सका, दिन पर

दिन चढ़ता गया और अन्त में तकाजा होने लगा। लड़के ने विचार किया कि हमारे यहां तो बहुत धन था, बाप दादा करोड़ाधिपति कहलाते थे, हमारी दुकान बहुत प्राचीन थी, संभव है कि किसी स्थान पर धन गड़ा हुआ हो। इस समय लड़के के पास एक पुराना मकान बचा था, वह भी रहन रक्खा हुआ था परन्तु था उसी के कब्जे में। भंडार की कोठरी कुछ अंधेरे वाली थी। लड़का बत्ती जला कर उसके चारों तरफ देखने लगा तो दीवार में ताम्र पत्र लगा हुआ देखा। राज को बुलवा कर दीवार को आस पास से खुदवा कर ताम्र पत्र को निकलवाया। उसमें इस प्रकार लिखा था। "यह ताम्र पत्र गाड़े हुए धन की सूचना देने का है जिस स्थान में यह ताम्र पत्र है, वहां मध्य स्थान में पांच हाथ नीचे जमीन में एक संदूक गड़ा हुआ है, संदूक में दस मन सुवर्ण है। जब कोई भारी आवश्यकता हो तो यह धन ले लेना संवत + +" लड़का यह पढ़ कर बहुत प्रसन्न हुआ और यह सोच कर कि मेरा सब कर्जा चुक जायगा और दुकान भी चालू हो जायगी, उसने मजूरों को बुलवाकर भंडार की कोठरी खुदवा डाली। पांच हाथ नीचे एक संदूक मिला। संदूक के ऊपर ही संदूक की चाबी बंधी हुई थी। चाबी लेकर संदूक खोला गया। हाय! आश्चर्य! संदूक खाली था! संदूक में कुछ भी न था! लड़का बहुत दुखी होकर विचारने लगा "यह ताम्र पत्र झूठा नहीं हो सकता! अक्षर स्पष्ट पढ़े जाते हैं, शब्दार्थ भी ठीक २ है! तब सुवर्ण कहां? क्या गाड़ते समय तो किसी ने चुरा न लिया? सम्वत् देखने से मालूम होता है कि यह पिता के यात्रा जाने के प्रथम ही गाड़ा गया है! अच्छा

वहीखाता तो देखूँ; उसमें क्या लिखा है?" यह विचार कर उसने वहीखाता निकाल कर देखा तो कलकत्ते से दस मन सुवर्ण खरीदना भी मिल गया। बात पक्की हुई परन्तु सुवर्ण का कहीं पता नहीं। लड़के ने अपने जान पहचान वालों को ताम्र पत्र दिखलाया, खाली संदूक भी दिखलाया और वही में लिखी रकम भी दिखलाई। सब आश्चर्य में पड़ गये परन्तु मामला क्या है, धन कहां गया, यह किसी की समझ में नहीं आता था। कई दिन तक लड़का पूंछ तांछ करता ही रहा परन्तु भेद न खुला! एक दिन साहूकार का एक पुराना मित्र जो विदेश में रहता था किसी कारण से उसी शहर में आया और एक दिन अपने मित्र के लड़के से मिलने आया। लड़के ने धन्धा, रोजगार और सब मनुष्यों की हानि का वर्णन किया, अन्त में ताम्र पत्र दिखलाया और वही भी सामने रख दी। वह वृद्ध पुरुष बहुत बुद्धिशाली था, उसे निश्चय हो गया कि बात सब ठीक है और सुवर्ण है भी। उसने लड़के से कहा कि मुझे सन्दूक दिखलाओ। लड़केने सन्दूक दिखलादी। वृद्धने एक छेनी औरहथौड़ी मंगवाकर सन्दूकको एक तरफसे काटकर देखा और कहा, लो, सन्दूकमें सुवर्ण नहीं है, सन्दूक ही दस मन सुवर्णका बना हुआ है। साफ तो लिखा है कि सन्दूकमें दस मन सुवर्ण है, सन्दूकमें दस मन सुवर्ण रक्खा है, ऐसा तो नहीं लिखा! लड़का प्रसन्न हो गया और वृद्ध की कृपा से उसकी दरिद्रता मिट गयी।

इसी प्रकार महावाक्य के अर्थ में भी युक्ति लगी हुई है। जैसे सन्दूक की नाम रूप उपाधि को त्याग कर वस्तु रूप सुवर्ण ही था, नाम रूप को देखते हुए सुवर्ण का पता नहीं था इसी प्रकार तत् त्वं के नाम रूप की उपाधियों को छोड़ कर वस्तु रूप

एक सत् आत्मा को सद्गुरु दिखलाता है। ताम्र पत्र के शब्द स्पष्ट होने पर भी किसी की समझ में न आये; इसी प्रकार महावाक्य के शब्द स्पष्ट होते हुए भी अपने आप समझने के योग्य नहीं है।

तत्त्वमसि महावाक्य में तत्, त्वं और असि तीन पद हैं। उनका विवेचन इस प्रकार है:—

उपनिषद् के वाक्य के अनुसार जो सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण है, सब प्रकारके सामर्थ्यसे पूर्ण है, शक्तिमान् है, सर्वज्ञ है, परोक्ष है, (ईश्वर जीवका प्रत्यक्ष विषय न होनेसे परोक्ष है,) स्वतन्त्र है, व्यापक है, एक है, और माया जिसके स्वाधीन है, ऐसा मायाका पतिहै, इस प्रकारके धर्म वाला ईश्वर है। अव्याकृत माया ईश्वरका देश है। उत्पत्ति, स्थिति और लय ईश्वरके काल हैं। माया के तीनों गुण ईश्वर की वस्तु हैं। विराट, हिरण्यगर्भ और अव्याकृत, ईश्वर के शरीर हैं और इन शरीरों के अभिमानी वैश्वानर सूत्रात्मा और अन्तर्यामी हैं। एक से बहुत होऊँ, ऐसी ईक्षणा से लेकर जीव में प्रवेश होने तक ईश्वर का कार्य है। इन सब सहित माया और उसमें पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब रूप चिदाभास और उनका अधिष्ठान ये तीनों मिलकर ईश्वर है, यह तत् पद का वाच्य अर्थ है। ईश्वर शुद्ध माया सहित है। शुद्ध माया ईश्वर की उपाधि है। ऐसी उपाधि सहित जो चैतन्य है, उसे ईश्वर का वाच्य अर्थ समझो। जो अर्थ शब्दों के अनुसार होता है उसे वाच्य अर्थ कहते हैं। जब वाक्य अर्थ में विरोध दीखता है तब लक्षणा करनी पड़ती है। माया और चिदाभास का त्याग करके शेष रहा जो अधिष्ठान, ईश्वर, साक्षी, शुद्ध ब्रह्म यह तत् पद का लक्ष्यार्थ है। विचार पूर्वक शोधन करके किया हुआ अर्थ

लक्ष्यार्थ होता है जो लक्षणा में समझा चुके हैं। ब्रह्म की सत्यता का संसर्ग ईश्वर में अध्यस्त है इसलिये ईश्वर सत्य प्रतीत होता है। ईश्वर और उसका कारणपना ब्रह्म में अध्यस्त है इसलिये ब्रह्म जगत् का कारण मालूम होता है। ऐसा अविवेक से होता है।

कर्त्ता भोक्ता जीव, कर्म के आधीन, असमर्थ है, अल्प शक्ति वाला है, अल्पज्ञ हैं, (अविद्या मोहित होने से बंध मोक्ष वाला) प्रत्यक्ष है। अपना स्वरूप किसी को परोक्ष नहीं है इसलिये प्रत्यक्ष है। ईश्वर का स्वरूप ईश्वर को प्रत्यक्ष है, परन्तु वह जीव को प्रत्यक्ष न होने से परोक्ष कहा है। जीव टुकड़ा रूप होने से परिच्छिन्न है, नाना—बहुत है और अविद्या वाला है ये जीव के धर्म हैं। चक्षु, कंठ और हृदय जीव के देश हैं, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति जीव के काल हैं स्थूल सूक्ष्म भोग जीव की वस्तु है, स्थूल, सूक्ष्म और कारण जीव के शरीर हैं। विश्व, तेजस और प्राज्ञ उनके अभिमानी हैं। जाग्रत् से लेकर मोक्ष पर्यन्त जीव का कार्य है और अविद्या उसकी उपाधि है। इन सब सहित अविद्या और उसमें प्रतिबिम्ब रूप चिदाभास और उसका अधिष्ठान कूटस्थ ये सब मिलकर जीव कहलाता है। यह त्वं पद का वाच्य अर्थ है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर का अधिष्ठान, जीव, साक्षी, कूटस्थ, आत्मा यह त्वं पद का लक्ष्यार्थ है। कूटस्थकी सत्यता का संसर्ग (तादात्म्य) जीव में अध्यस्त है इसलिये जीव मिथ्या प्रतीत नहीं होता और जीव उसके कर्तापने आदिक धर्म स्वरूप कूटस्थमें अध्यस्त है इसलिये कूटस्थ अकर्ता, अभोक्ता मालूम नहीं होता। ऐसा अविवेक से होता है।

तत् त्वं पद के अर्थ का कोष्टक।

	तत्-ईश्वर	त्वं-जीव
धर्म	समर्थपना	असमर्थपना
	सर्वशक्ति	अल्प शक्ति
	सर्वज्ञ	अल्पज्ञ
	परोक्ष	प्रत्यक्ष
	स्वतंत्र	परतंत्र
	व्यापक	परिच्छिन्न
	एकपना	नाना पना
	माया	अविद्या
देश	अव्याकृत माया	चक्षु, कंठ, हृदय
काल	उत्पत्ति, स्थिति, लय	जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति
वस्तु	माया के तीन गुण	स्थूल-सूक्ष्म भोग
शरीर	विराट,हिरण्यगर्भ,अव्याकृत	स्थूल, सूक्ष्म, कारण
अभिमानी	वैश्वानर, सूत्रात्मा और अन्तरयामी	विश्व, तैजस और प्राज्ञ
कार्य	एकसे बहुत होऊं यहांसे लेकर जीवमें प्रवेश होने तक	जाग्रतसे लेकर मोक्ष पर्यन्त
स्वरूप	माया आभास और चेतन	अविद्या, आभास और चेतन

इस प्रकार दोनों का वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ है। वाच्यार्थ से तत् पद और त्वं पद की एकता नहीं हो सकती क्योंकि वे दोनों ही एक दूसरे से विरुद्ध हैं किन्तु जो उनके लक्ष्यार्थ को लिया जाता तो असि पद 'है' में उन दोनों की एकता हो सकती है। वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों प्रकार के अर्थों में से लक्ष्यार्थ ही एकता का हेतु हो सकता है क्योंकि दोनों का लक्ष्यार्थ शुद्ध स्वरूप तत्त्व एक ही है। तत् पद के लक्ष्यार्थ ईश्वर, चैतन्य, साक्षी; और त्वं पद के लक्ष्यार्थ आत्म (कूटस्थ) में विरुद्धता नहीं है क्योंकि जीव में कर्ता, भोक्तापना, सुख दुख आदिक की प्रतीति केवल अविद्या कल्पित अंतःकरण आदि उपाधियों के अध्यास से होती है, जीव का शुद्ध स्वरूप शुद्ध सच्चिदानन्द है, कर्ता भोक्ता आदि धर्म अंतःकरण के हैं और जन्म मरणादि धर्म देह के हैं, लक्ष्य स्वरूप आत्मा में इन सबकी गंध भी नहीं है। इसी प्रकार जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय की क्रिया माया की उपाधि करके ही ईश्वर की है। ईश्वर का वास्तविक स्वरूप तो शुद्ध, अद्वितीय, पूर्ण सच्चिदानन्द रूप है। उपाधि भेद के विचार किये विना केवल वाच्यार्थ में जीव और ईश्वर का भेद प्रतीत होता है। भाग त्याग लक्षणा से उपाधि अंश का त्याग करके चेतन में दोनों की एकता है।

घट और मठ छोटी और बड़ी आकृति वाले हैं। मध्य में दोनों ही अवकाश वाले हैं। दोनों के मध्य का अवकाश घटाकाश और मठाकाश कहलाता है। घटाकाश और मठाकाश

उपाधि की दृष्टि से है। यदि उपाधि दृष्टिको त्याग कर आकाश को ग्रहण किया जाय तो दोनों के आकाश की एकता है। इसी प्रकार जीव और ईश्वर की उपाधियों को त्याग कर चेतन एक ही है। जैसे किसी ने सकोरे में दीपक जलाया और दूसरे ने लालटेन में जलाया। सकोरा और लालटेन दोनों ही दीपक की उपाधि हैं। दोनों उपाधियों का त्याग करके दीपक को ग्रहण किया जाय तो दोनों की एकता है। इसी प्रकार जीव और ईश्वर की उपाधियों का त्याग करके एकता है। ऐसे ही राजा और कहार उपाधिको छोड़कर मनुष्यत्व में एक हैं। नदी के जल और लोटे के जल में नदी और लोटे की उपाधियों को छोड़ कर एकता है। इसी प्रकार जीव ईश्वर की उपाधियों का त्याग करके चेतन में एकता को समझना चाहिये और शुद्ध चेतन ही अपने स्वरूप को निर्धारित करना चाहिये। यह ही तत्त्वमसि महावाक्य की भाग त्याग लक्षणा से प्राप्त हुआ बोध निश्चयता से कैवल्य पद की प्राप्ति है।

तीन प्रकार की लक्षणा पूर्व बतलाई है। उनमें से जहत् लक्षणा महावाक्यों में नहीं लग सकती क्योंकि जहत् लक्षणा में वाच्यार्थ का समग्र त्याग होता है, मात्र उसके सम्बन्धी का ही ग्रहण होता है। जहत् लक्षणा लगाने से तत्त्वमसि में रहे हुए ईश्वर और जीव की उपाधि और चेतन सबका ही त्याग हो जायगा और 'है' में जो उन दोनोंकी एकता होती है सो न होगी। इसी प्रकार अजहत् लक्षणा का लगाना भी तत्त्वमसि में संभव

नहीं है क्योंकि अजहत् लक्षणा में संपूर्ण वाच्यार्थ के ग्रहण सहित उसके संबंधी का भी ग्रहण होता है। यदि ईश्वर और जीव दोनों की उपाधियों का ग्रहण होगा तो दोनों की एकता बन न सकेगी। तीसरी जहदाजहत् लक्षणा जिसको भाग त्याग लक्षणा कहते हैं, वह ही महावाक्यों में लग सकती है। उसमें वाच्यार्थ के कुछ अंश का त्याग और कुछ अंश का ग्रहण होता है। तत्त्वमसि ईश्वर और जीव की एकता का कथन करता है, दोनों विरुद्ध लक्षण वाले होने से उनकी एकता नहीं हो सक्ती इसलिये लक्षणा पहुंचानी पड़ती है। जहदाजहत् लक्षणा से उपाधियों को त्यागकर चेतन में एकता होती है। उसे समझने को नीचे कोष्टक देते हैं।

तत्त्वमसि महावाक्यका भाग त्याग लक्षणासे निश्चितार्थ।

पद	तत्	त्वं	असि
शब्द	वह	तू	है
वाच्यार्थ	ईश्वर	जीव	होना
वाच्यार्थ का स्वरूप	माया आभास और चेतन	अविद्याआभास और चेतन	उपाधि सहित होना
भाग त्याग	माया और आभास	अविद्या और आभास	उपाधि
ग्रहण अंश	चेतन	चेतन	है
निश्चितार्थ	ईश्वर और जीव की उपाधियों को छोड़कर जीव चेतन और ईश्वर चेतन एक ही है।		

जीव चेतन जीव की और ईश्वर चेतन ईश्वर की उपाधियों से संयुक्त है। जब जीव और ईश्वर को उनकी उपाधियों का त्याग करके समझते हैं तब चेतन अंश में दोनों की भिन्नता नहीं है। चेतन अंश दोनों में समान है इतना ही नहीं परन्तु एक ही है क्योंकि चेतन सर्व व्यापक है और जीव की परिच्छिन्नता तो उपाधि से और ईश्वर की अपेक्षा से है। इसी प्रकार ब्रह्म की अपेक्षा और माया की उपाधि से ईश्वर की परिच्छिन्नता है। जीव और ईश्वर की पृथकता चेतन से नहीं है इसलिये उपाधियों का त्याग करने से नाम रूप वाला जीव और नाम रूप वाला ईश्वर नहीं रहता किंतु एक अखंडित ब्रह्म रहता है। वह ही मेरा आद्यस्वरूप शुद्ध आत्मा है। इस प्रकार का बोध तत्त्वमसि महा वाक्य से प्राप्त होने से जगत् के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है। जब तक जीव को अपना विवेक नहीं होता तब तक जन्म मरण के अनेक कष्टों को भोगता है। विवेक होने से सब कष्टों सहित संसार की निवृत्ति हो जाती है। जैसे सब नदियां एक ही समान जल होने पर भी देश, स्थान, प्रवाह आदिक की उपाधियों से भिन्न २ नाम और रूप वाली होती हैं। किसी का जल निर्मल, किसी का गदला, किसी का हरा, किसी का सफेद, किसी का पाचक और किसी का बादी होता है। जिन देश, वनस्पति आदि का संग नदी करती हैं उन का गुण नदी के जल में होता है। नदियां छोटी, बड़ी, सूखने वाली, न सूखने वाली, पूर्व वाहिनी, पश्चिम वाहिनी होती हैं, यह सब भेद उपाधि का है। जब नदी सब प्रकार की उपाधियों

को छोड़ कर समुद्र में मिल जाती है तब नदी की पृथकता नहीं रहती, नदी का जल और उसका गुण भी नहीं रहता। नदी जब अपने नाम रूप को छोड़ कर अखंडित भरपूर, अमर्यादा वाले समुद्र में एकता को प्राप्त होती है, तब वहां गंगा, जमुना आदिक का भेद नहीं रहता। इसी प्रकार तत्त्वमसि महावाक्य से उत्पन्न हुआ बोध सब उपाधियों का त्याग कराने वाला है। उपाधियों का त्याग होने से जीव अपने जीवत्व-प्रपंच को छोड़कर ब्रह्म स्वरूप हो जाता है वहां जीव की पृथकता नहीं रहती। उपाधियों का स्वरूप से त्याग करना देहधारी को अशक्य है क्योंकि प्रारब्ध प्रवाह से देह बनी रहती है, जब तक प्रारब्ध समाप्त न हो तब तक देह की समाप्तिनहीं होती। स्थूल, सूक्ष्म सब उपाधियां अज्ञान जनित कल्पित हैं। जब अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तब सब उपाधियों के भाव का क्षय हो जाता है। ऐसी हालत में जगत् के मनुष्यों को उपाधि दीखती रहे, तो भी वह ज्ञानाग्नि से दग्ध होने के कारण ज्ञानी को उपाधि रहित का ही फल होता है। बन्धन में सब भिन्न २ हैं परन्तु बन्धन की वास्तविक निवृत्ति से अपने आद्यस्वरूप में सब एक ही हैं और उपाधि होते हुए भी सत् स्वरूप में कुछ भी भिन्नता नहीं हुई है तो भी पूर्ण विवेक विना-आत्म बोध विना सत् स्वरूप जानना अशक्य है।

किसी २ जंगलमें मं नाम का जानवर होता है जो रीछ और मनुष्य की आकृति से मिलता जुलता होता है। उसके शरीर पर रीछ के समान बाल होते हैं। उन जानवरों में नर से मादा

अधिक होती हैं। कोई २ उसे एक प्रकार का रीछ ही कहते हैं। उसके शरीर में गरमी विशेष होती है। नर की न्यूनता से विषय की प्रबलता के कारण उसकी मादा जंगल में से कभी २ जिस किसी मनुष्य को अकेला पाती है, पकड़ कर पीठ पर लाद कर अपनी गुफा में ले आती है और गहराई वाली गुफा के भीतर रखकर, गुफा के दरवाजे पर भारी पत्थर लगा कर बाहर चली जाया करती है। पत्थर इतना भारी होता है कि गुफा में बंद किया हुआ मनुष्य उसे उठा नहीं सकता। गुफा में बंद किये हुए मनुष्य को मं की मादा मारती नहीं है किंतु उससे प्यार करती है, कच्चा मांस खाने को और जल पीने को देती है। इस प्रकार रक्खे हुए मनुष्य से वह अपने विषय भोग की तृप्ति करती है। दो चार मास में जब मनुष्य शक्तिहीन और उसके काम का नहीं रहता तब उसे उठाकर गुफा के बाहर डाल देती है। इस प्रकार सब शक्ति चूस कर निर्माल्य करके छोड़ा हुआ मनुष्य बाहर की हवा लगते ही मर जाता है।

ऐसी एक गुफा में एक मनुष्य बोल रहा है "हाय! अब मैं क्या करूँ? बुरा फँसा! मैंने अपनी सैन्य का साथ छोड़ कर यह आपत्ति ग्रहण की है! मैं सब अपराधियों को दंड देने वाला होकर भी आज विना अपराध इस अन्धेरी गुफा में बंद पड़ा हूँ! हाय! मेरे एक शब्द के साथ हजारों मनुष्य तैयार होजाते थे! आज मेरी आवाज सुनने वाला मेरी मदद को आने वाला कोई भी नहीं है! हाय दैव! तेरी विचित्र गति ने आज मुझको दीन

किया है! तूने बड़े २ सिद्ध और मुनीश्वरों को भी अपने वश करके वारंवार दीन किया है। तब राजा कहलाता हुआ भी मैं एक सामान्य मनुष्य दैव कोप से किस प्रकार बच सकता हूँ!" राजा कुछ और बोलना चाहता था कि "ऊंह ऊंह" ऐसा शब्द उसके कान में पड़ा! राजा, यह समझ कर कि यह शब्द मेरे समान विपत्ति में पड़े हुए किसी मनुष्य का है, बोला "क्या यहां मेरे समान दुर्भागी और भी कोई है?" एक बहुत धीमी आवाज आई "हां! राजा! तू धीरे २ मेरे पास आ! तू जहां है वहां से दहनी तरफ टटोलता हुआ आ! मैं भी तेरे समान एक अभागा मनुष्य हूँ!" राजा उसके कहे अनुसार गया, वहां उसने एक मनुष्य पड़ा पाया। उसमें का सब तेज चला गया था, वह उठने बैठने की शक्ति से रहित था आवाज भी बैठ गई थी परन्तु थोड़ा २ बोल सकता था। राजा ने कहा "हे मनुष्य! तू कौन है?" वह मनुष्य बोला "हे राजा! मैं एक गरीब मनुष्य हूँ, पास के ग्राम में रहता हूँ नित्य जंगल में लकड़ी काटने आया करता था, और उन्हें बेच कर गुजारा किया करता था। मेरे एक छोटा लड़का और स्त्री है, आज से डेढ़ मास पहिले एक दिन जंगल में से मैं लकड़ियां काटकर शिर पर रखनेको ही था कि मं को मादा अचानक आ पहुँची और मुझे उठा कर इस गुफा में लाकर बंद कर दिया। वह मुझे कच्चा मांस खाने को और पानी पीने को देती है और मुझसे विषय भोग कराती है। मैं दिन पर दिन कमजोर होता चला जा रहा हूं। जब उसने मुझे कमजोर देखा तब वह तुझको ले आई है। अब वह तेरे साथ भी ऐसा ही व्यवहार

करेगी। हाय! मैं तो भूलता हूँ, आप तो राजा हैं; आप अपनी सामर्थ्य से बाहर निकल सकते हैं।" राजा बोला "हे मित्र! अब तू मुझे राजा मत कह इस स्थान पर न तो तू लकड़िहारा है और न मैं राजा हूँ। इस जेलखाने में मेरा राजापन कुछ काम नहीं आ सकता। राजा के साथ राज्य की उपाधि होती है, यहां पर तो जैसा तू है ऐसा ही मैं हूँ। देख तो सही! हम कैसी दुर्गंधि में पड़े हुए हैं।" कठियारा बोला "राजा! दुर्गंधि तो टट्टी, पेशाब और सड़े हुए मांस की है। आप कहां के राजा हैं और मुझ दुर्भागी के साथी किस प्रकार हुए हैं?" राजा बोला "मित्र! यहां से पचीस कोश पर एक पहाड़ है, मैं वहां का राजा हूँ, मेरे दो पुत्र और कई रानियां हैं। धन, सैन्य, नौकर, चाकर आदिक सब वैभव बड़े राजा की शोभा के समान हैं परन्तु हाय! इस समय कोई भी किसी काम का नहीं है। मैं जंगल में शिकार खेलता हुआ अकेला रह गया था, मेरे साथी और सैन्य दूर रह गये थे। जब मैं बहुत थक गया तब विश्रांति लेने को घोड़ा एक पेड़ से बांधने लगा इतने ही में मुझे पीछे से किसी ने पकड़ लिया, मैं बहुत चिल्लाया, हथियार मैंने प्रथम ही जमीन पर रख दिये थे। मेरी चिल्लाहट सुनने वाला वहां कोई न था, मैं चिल्लाता ही रहा, मैं जानवर मुझे इस गुफाके पास लाया होगा कि मैं देखते २ बेहोश होगया। फिर मुझे खबर नहीं कि वह मुझे यहां कैसे लाया।" कठियारा बोला "वह पत्थर खोल कर यहां चली आई और तुझे रख कर फिर पत्थर बंद करके बाहर चली गई है। मैंने जान लिया था कि मेरे समान कोई और आगया है, तू घन्टे भर

बेहोश रहा, फिर होश में आकर विचारने लगा"। राजा बोला, "अब वह कब आवेगी ?" कठियारेने कहा "दिन भर वह जंगल में रहेगी, रात्रि के समय आवेगी, मुख में थोड़ा जल भर लावेगी, और मांसका टुकड़ा हाथमें लेती आवेगी, जो तुझे खिलावेगी !" राजा घृणा करता हुआ बोला "हाय ! कच्चा मांस मुझ से कैसे खाया जायगा ! इससे तो वह मुझे मार दे तो अच्छा !" कठियारा बोला "राजा ! वह तुझे मारेगी नहीं, उलटा प्यार करेगी ! अच्छा न लगते हुए भी प्राण बचाने के लिये सब कुछ खाना पड़ता है। राजा जी ! आप समर्थ हैं ! अपने सामर्थ्य को अजमाइये !" राजा बोला "मित्र ! मेरी हंसी क्यों करता है ? अब मैं राजा कहां हूँ ! जैसा तू मनुष्य है ऐसा ही मैं हूँ ! न तेरी उपाधि कठियारे की रही न मेरी राजा की ! मैंने सुना है कि मोक्ष में सब एक हो जाते हैं, किसी की कोई उपाधि नहीं रहती ! इस समय तो मं ने अपने कैदियों को एक कर रक्खा है ! हाय ! दैव ! भाई कठियारे ! इस स्थान पर तू ही मेरी माता है, तू ही पिता है ! तू ही विशेष समय का यहां का निवासी है ! मेरे बचने की मुझे कोई युक्ति बता !" कठियारा बोला "हाय ! मुझे युक्ति मालूम होती तो मैं क्यों पड़ा रहता !" राजा बोला "भाई ! तू मं जानवर को जानता है और इस गुफा का भी भेदी है !" कठियारा बोला "भाई ! मैं एक युक्ति बताता हूं। इस गुफा में से बाहर जाने का मार्ग नहीं है, गुफा पत्थर की बनी हुई है, मैंने गुफा के बांई तरफ दश कदम पर कुछ मट्टी सी देखी है, यदि तू उसे खोद सके तो खोद,

तीन चार दिन में छिद्र बाहर फूट आवेगा, तब तू निकल जाइयो और कई मनुष्य लाकर मेरे निकालने का भी यत्न कीजिओ।"

राजा ने वह स्थान देखा तो कठियारे का कहना सच्च मालूम दिया। नोकीला पत्थर लेकर वह उस स्थान को खोदने लगा। चौथे दिन छेद होगया और राजा बाहर निकल गया। उसकी सैन्यके मनुष्य उसको खोज रहे थे। राजा उनसे मिला और कई मनुष्योंको साथ लेकर गुफा के पत्थर को खिसकवा कर कठियारे को बाहर निकाला और पालकी में बैठा कर सार संभार करने के लिये अपने साथ लेगया।

मं की गुफा में राजा और कठियारा दोनों की उपाधि का त्याग हुआ था। दोनों का एक मनुष्यत्व ही रह गया था। इसी प्रकार तत्त्वमसि महावाक्य से जीव ईश्वर दोनों की उपाधियों का त्याग करने से एक चेतन ही रहता है। मनुष्यत्व व्यक्ति वाला होने से मं की गुफामें दो मनुष्य रहे थे परन्तु चेतन व्यक्ति वाला न होने से और व्यक्ति वाला चेतन जो उपाधि रूप है उसका त्याग होने से चेतन एक ही रहता है। वह ही परम पद है। वह ही ब्रह्म है।

एक दिन एक राजा जंगल में शिकार खेलने गया। वहां से लौटते हुए उसने एक वृक्ष के नीचे पड़ा हुआ एक विचित्र प्राणी देखा। उसे देख कर राजा और उसके साथियों को बड़ा आश्चर्य हुआ। राजा विचारने लगा "यह कौन सी ज़ाति का प्राणी है? यह नवीन जाति का प्राणी है! इसको अजायबघर में रक्खेंगे।

यह कोई अद्भुत प्रकार का वन्दर की जाति का प्राणी है ! यह मनुष्य से वहुत कुछ मिलता जुलता है ! इसका मुख और हाथ लंगूर के समान काले हैं परंतु शरीर पर लंगूर के समान वाल नहीं हैं ! इसकी चित्र विचित्र रंग की चमड़ी मुलायम है। इसको देखकर लोग आश्चर्य करेंगे।" ऐसा विचारकर राजा ने नौकरों को आज्ञा दी कि इसे पिंजरे में वन्द करके साथ लेलो। पशु साथ ले लिया गया और शहर में जाकर अजायवघर में भेज दिया गया और उसकी संभाल और खिलाने पिलाने का काम एक लड़की को सोंपा गया। उस लड़की की उमर दश वर्ष की थी वह उस प्राणी के साथ खेला करती थी। दोनों में प्रीति बढ़ गई, वे एक दूसरे को सगी वहिन समझने लगीं। यद्यपि प्राणी पिंजरे में बंद रक्खा जाता था तो भी लड़की के साथ प्रेम होने से वह दुखी न था। उस प्राणी ने अपनी गुप्त वात लड़की से कह दी थी।

एक दिन राजा के यहां भारी उत्सव हुआ। राजधानी में रहने वाले सब मनुष्यों को उत्सव में भाग लेने का निमन्त्रण दिया गया। लड़की के कहने से यह वात उस प्राणी को मालूम हुई तुरन्त ही उसने अपने हाथ और मुख को धो डाला और सुवर्ण की पोशाक पहिन कर वह राजा के अन्त:पुर में पहुँच गई। राजा पूर्ण आनन्द में आसन पर वैठा था। जहां वह वैठा था वहां वह सुंदरी (जो पूर्व में एक अजायव प्राणी था) दो वार आई और गई। राजा की दृष्टि उस पर पड़ी, उस

भुवन मोहिनी सुन्दरी को देखकर राजा ने एक दासी उसके पास भेजी। दासी उसके पास पहुँचने ही को थी कि इतने में वह सुन्दरी तेजी से चली और न मालूम कहां चली गई। सुन्दरी ने अजायब घर में पहुंच कर अपने हाथ और मुख पर काला लेप किया और पत्थरकी पोशाक पहिन ली! राजा भुवन मोहिनी सुन्दरी को देख कर मोहित होगया था। बिना खबर लिये दासी को लौटी हुई देखकर उसके दिल में आघात हुआ। रात्रि दिन उसका चित्त सुंदरी के ध्यान में रहने लगा। अंत में जब पता न चला तब राजा ने इस प्रकार डोंडी पिटवाई:—सुवर्ण वस्त्र परिधान की हुई सुन्दरी का जो पता लगावेगा उसे एक हजार सुवर्ण मोहर पुरस्कार मिलेगा।

कितनेक दिन बीत गये परन्तु सुन्दरी का कहीं पता नहीं चला तब राजा ने दूसरी बार अपने शहर भर का निमन्त्रण किया। विचित्र प्राणी ने अपने हाथ मुख धोकर चांदी के वस्त्र परिधान किये और वह राजमहल में पहुँच गई। राजा ने उसे देखकर दासी भेजी। दासी को उसने कुछ उत्तर न दिया। जब राजा ने उससे जाकर पूछा तो उसने 'मैं राज कन्या हूँ' इस प्रकार अपना परिचय दिया। राजा ने उसके साथ विवाह करने की इच्छा प्रगट की। सुंदरी ने यह बात मान ली। दूसरे दिन विवाह की रचना की गई और दासी नई रानी को बुलाने गई। सुंदरी एक एकांत कमरे में बैठी हुई थी और उसने पत्थर की पोशाक पहिन रक्खी थी। पत्थर की पोशाक सहित वह

राजमंडप में गई। उसका स्वरूप देखकर राजा बोल उठाः—
"अरे! इस सुलमय में इस पशु को लाने की किसने हिम्मत की है? इस समय में इस अपशकुनकारक पशु को लाने वाले को मैं भयंकर दंड दूंगा।" प्राणी कुछ न बोला परन्तु मुस्कराने लगा! राजा बहुत क्रोधित हुआ और भरी सभा में ढीठाई करने वाले पशु के अंग पर एक हाथ लगाते ही पत्थर की पोशाक खिसक गई और सुवर्ण की पोशाक दीखने लगी! यह देखकर राजा बहुत लज्जित हुआ और कहने लगा "प्रिये! तू ऐसी ठगनी है, ऐसा मुझे स्वप्न में भी ख्याल न था! यह सब क्या गड़बड़ है?" सुंदरी कुछ न बोली। शुभ मुहूर्त में विवाह की सब विधि हो गई। दूसरे दिन राजा के पूछने से सुंदरी ने अपना वृत्तांत इस प्रकार सुनायाः—

मध्य प्रांत में अजयपाल नाम का एक राजा है। मैं उसके छोटे भाई की लड़की हूँ, मैं विवाह के योग्य हुई थी। एक दिन मेरे ताऊ ने वस्त्रों से सजी हुई मुझको देखा। वह मुझ पर मोहित हो गया और लोक लज्जा, धर्म मर्यादा आदिक छोड़ कर मेरे साथ विवाह करने को तैयार हुआ। मैंने विनती करते हुए कहा "पिताजी! यह आप क्या करते हो? मैं आपके छोटे भाई की पुत्री, आपकी ही पुत्री हूँ. पुत्री की तरफ कुदृष्टि से देखने वाले नरक गामी होते हैं. आपने मात्र इच्छा की है इससे भी आपको भयंकर पाप लगा है, इस अघटित पापाचरण से आप कलंकित मत हो; आज तक आपकी जो कीर्ति फैल रही है,

ऐसा करने से उसका नाश हो जायगा !" राजा ने मेरी एक बात न मानी ! मेरा पिता और दरबार के लोग राजा के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकते थे। बात सब स्थानों पर फैलती गई। "ताऊ के साथ मुझे जबरन लग्न करना पड़ेगा, उसके साथ विवाह होने से मेरा जीवन मिट्टी में मिल जायगा, महान् पाप लगेगा, मैं जगत् में क्या मुख दिखलाऊंगी और राज्य पर भी कोई महान् संकट ही आवेगा !" ऐसा विचार कर मैं अत्यंत दुःखी होती थी। मेरे जी में ऐसा विचार बारम्बार उत्पन्न हुआ करता था। इस आपत्ति से मुक्त होने की युक्तियां ढूंढ़ा करती थी। अंत में मैंने ताऊ से कहला भेजा कि यदि तीन दिन में जैसी पोशाक मैं आपसे कहूँ वैसी ला दोगे तो मैं आपसे हंसी खुशी विवाह कर लूंगी। राजा मेरे पास आया और मुझसे पूछा कि तुझे कैसी पोशाक चाहिये ? तब मैंने कहा कि एक सुवर्ण की, दूसरी चांदी की और तीसरी भिन्न २ रंगों के पत्थरों की पोशाक मुझे चाहिये, ये तीनों पोशाकें ऐसी हों कि मुट्ठी में रह सकें और तीन दिन में ही तैयार हो जानी चाहियें। राजा ने तीनों प्रकार की पोशाकें तीन दिन में तैयार करा कर मेरे सामने रखदीं और कहा कि तेरे कहे अनुसार तीनों पोशाकें आ गई, अब मैं तेरे साथ विवाह करके तुझे अपनी धर्म पत्नी बनाऊंगा। मैंने विचार कर कहा कि अब मैं प्रसन्न हुई हूँ, कल शुभ मुहूर्त्तमें विवाह अवश्यकर लेना। इतना सुनकर राजा चला गया। उसके बाद आधी रात को मैंने सोने चांदी की पोशाकें तो अपने साथ छुपा कर रखलीं और पत्थर की पोशाक पहन कर राज

महल को अंतिम प्रणाम करके मैं वहां से निकल पड़ी। जब तक सवेरा हुआ तब तक मैं चलती रही। यद्यपि मैं थक गई थी तो भी जल्दी २ चलती थी। सुबह होते ही मैं एक जंगल में पहुंच गई। जब मुझे भूख लगी तो वन के फल खाकर झरने का पानी पी लिया। दोपहरी में मैं एक वृक्ष के नीचे सो रही और गहरी नींद में पड़ गई। उसी समय आप वहां पहुँचे और मुझे पत्थरकी पोशाक पहिने हुए देखकर आपने मुझे विचित्र प्राणी समझा और यहां लाकर अजायब घर में रख दिया। ताऊ के अत्याचार के भय से मैं भागी थी, मेरा संस्कार आपके साथ था। दैव ने सब संयोग प्राप्त करा दिया।

राजा यह सुनकर प्रसन्न हुआ और राजा रानी दोनों आनन्द पूर्वक रहने लगे।

सुंदरी में दो अंश देखने में आते थे, एक स्त्रीपना और दूसरा वस्त्रपना। जब वह वस्त्र पहिन लेती थी तब स्त्रीपना दब जाने से सामान्य मनुष्य के समझने में नहीं आता था कि यह स्त्री है, राजा भी भ्रम में पड़ कर उसे कोई विचित्र प्राणी समझने लगा था। जब उसने पत्थर वाले वस्त्र छोड़ कर सुवर्ण के वस्त्र धारण किये तब वह भुवन मोहिनी सुन्दरी दीख पड़ी और चांदी के वस्त्र पहिनने से रानी दिखाई दी। इसी प्रकार तत् और त्वं में भी तीन २ वस्त्र हैं। तीन अवस्थायें तीन वस्त्र हैं। उपाधि रूप वस्त्रों के भाग को त्याग करने से जिसमें उपाधि का आरोप किया

गया है, वह शुद्ध पदार्थ रह जाता है। तत् की महान् और त्वं की क्षुद्र उपाधियों को त्याग करने से एक चेतन शेष रहता है। उपाधि के त्याग और जिसमें उपाधि लगाई है, उसके ग्रहण से शेष एक ही वस्तु रहती है। यह महावाक्यका वास्तविक बोध है। उपाधि भिन्न २ होने से उपाधि सहित में एकता नहीं हो सकती इसलिये उपाधि का त्याग करके ही लक्ष्यार्थ से एकता करनी चाहिये।

एक स्थान पर एक शूरवीर पुरुष की प्रतिमा खड़ी थी! उसके हाथ में ढाल और तलवार दी गई थी। ढाल गोलाकृति की थी, भीतर से गहराई में बड़ी दीखती थी और ऊपरसे छोटी दिखाई देती थी। ढाल ऊपर से सुवर्ण के रंग वाली और भीतर चांदी के रंग की थी। उत्तर से आने वाले मनुष्य को वह सुवर्ण की और दक्षिणसे आने वाले को चांदी के रंग की दीखती थी। एक दिन एक सवार उत्तर से और दूसरा दक्षिण की तरफ से आया। दोनों में ढाल के रंग के बारे में झगड़ा हुआ। उत्तर से आने वाला उसे छोटी और सुवर्ण की और दक्षिण से आने वाला बड़ी और चांदी की बताता था। दोनों लड़ते लड़ते मर गये, ढाल को यथार्थ रीति से न जान पाया। इसी प्रकार तत् और त्वं एक ही ढाल के दो बाजू हैं, तत् भीतर की बाजू महान् है, त्वं बाहर की बाजू जीव है, यदि भीतर बाहर, बड़ी छोटी, और सुवर्ण चांदी की उपाधियों का त्याग किया जाय तो वस्तु

रूप ढाल एक ही है। इस प्रकार ढाल के ग्रहण और ढाल की उपाधियों के त्याग से स्वस्वरूप जाना जाता है, जो एक ही है, इस प्रकार तत्त्वमसि द्वारा अपने आद्य, चैतन्य, अपरिच्छिन्न, अखंड और अव्यक्त स्वरूप को जान कर, असंभावना और विपरीत भावना से रहित होकर स्वस्वरूप में टिकना परमपद है। इसी युक्ति से कैवल्य पद की प्राप्ति होती है।



मुमुक्षु का वृत्ति सोपान।

व्यवहार में अत्यन्त फँसे हुए अज्ञानी—मूढ़ लोगों में इस प्रकार की बुद्धि देखते हैं:—आज कल जगत् में कोई ब्रह्मनिष्ठ है ही नहीं ! घोर कलियुग प्रवर्त हो रहा है, इसमें ब्रह्मनिष्ठ कोई हो ही नहीं सक्ता ! यदि थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि ब्रह्मनिष्ठ हो सक्ता है, तो वह किसी पहाड़ की गुफा में छिप कर बैठा होगा ! उसको वस्ती में घूमने की, वस्ती में रहने की और मनुष्यों से संसर्ग रखने की क्या आवश्यकता है ? जब ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है तब देह की खबर नहीं रहती ! ज्ञानी किसी से बोलता नहीं है, अपने हाथ से खाता पीता नहीं है और शरीर से क्रिया भी नहीं करता। अग्नि से शरीर जल जाय तो भी उसे कुछ ज्ञान नहीं होता। उसे स्थान आदिक किसी का भी भान नहीं होता। एक ही साथ वह तो जगत् से गया सो गया ऐसा हो जाता है। क्या ऐसी दशा प्राप्त करना सहज है ? घर बार छोड़ना पड़ता है, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, जाति, वर्ण, आश्रम सब ही छोड़ना पड़ता है, संग रहित होना होता है, लंगोटी लगा लेनी पड़ती है, स्थान २ पर भिक्षा मांगना, पर्वत पर जाकर रहना पड़ता है, यानी जीवन की सब आशायें छोड़ दी जाती हैं, तब कहीं पदार्थ की प्राप्ति होती है। प्रपंच में—वस्ती में टिकने वाले को, सब धन्धा करने वाले को ब्रह्म प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ब्रह्म सुख जिसको प्राप्त हुआ, उसे प्रपंच में रहने का काम ही क्या है ? वह रहे ही क्यों ?

इस प्रकार के विपरीत भाव को ग्रहण करके अज्ञानी परमार्थ की तरफ से स्वयं मुख मोड़ लेता है और जो कोई दूसरा उस मार्ग की तरफ जाने की रुचि करता है, उसे भी रोक रखता है। इस प्रकार का विचार महा मूढ़ मनुष्यों का ही हो, ऐसा ही नहीं है किंतु अच्छे २ वेद पाठी, वैदिक कर्म कांडी, शास्त्रज्ञ, पंडित, अध्यात्म विद्या के पाठ करने वालों के मुख से भी इसी प्रकार के वचन सुने जाते हैं। हाय! कितना खेद! कितना आश्चर्य! विद्या ही ज्ञान दृष्टि है। उसको प्राप्त करके भी जिस की बुद्धि अन्धे के समान ही रही, उसके ऊपर ईश्वर का कोप ही समझना चाहिये, इसके सिवाय और क्या कहा जाय। जिस को थोड़ा बहुत मुमुक्षु भाव प्राप्त हुआ हो यदि वह इस प्रकार के वचन सुन ले तो उसकी मुमुक्षुता ही निवृत्त होजाय क्योंकि मुमुक्षुपने के विरुद्ध संस्कार अंतःकरण में बहुत होने से विपरीत वचनों को मुमुक्षु बहुत जल्दी पकड़ लेता है, उसका उत्साह भंग हो जाता है और स्वहित के मार्ग से मुख फिर जाता है। प्रपंच के ऊपर धूल डाले बिना प्रपंच को छोड़े बिना परमार्थ की सिद्धि—परम पद नहीं होता, यह सत्य है परन्तु जिसकी मुमुक्षुता तीव्र है, जो उत्तम अधिकारी है, उसकी मुमुक्षुता को प्रपंच विशेषता से बाध नहीं कर सकता अर्थात् जगत् का चालू व्यवहार टिकी हुई ज्ञान निष्ठा के भाव में किंचित् भी गौणता नहीं ला सकता। तीव्र जिज्ञासा व्यवहार से स्वतन्त्र है। पूर्ण जिज्ञासा तीव्र जिज्ञासा है। आधी जिज्ञासा हो और आधी होनी बाकी हो तो वह तीव्र जिज्ञासा नहीं है, उसका नाम मध्यम अथवा

मन्द जिज्ञासा है। जैसे राम-बाण अमोघ है, कभी व्यर्थ नहीं जाता; इसी प्रकार बड़े २ पहाड़ भी बीच में आ जाने से तीव्र जिज्ञासा रुक नहीं सकती। जैसे तीव्र वेग से चली हुई नदी महान् २ पर्वतों में से भी अपना मार्ग करती हुई चली आती है इसी प्रकार तीव्र वेगसे भरी हुई मुमुक्षुता अन्तमें अपने आद्य स्थान में ही सम्मिलित होती है। किस मनुष्य को, कहां, कब, किस कारण से, किस प्रकार मुमुक्षुता उत्पन्न होती है इसका कोई नियम नहीं है, किसी प्रकार से भी यह प्रवाह चालू होजाय तो समझना चाहिये कि कार्य की सिद्धि अवश्य होगी। जब तीव्र मुमुक्षुता का उदय होता है तब मुमुक्षु चाहे जिस स्थिति में हो, उसकी कोई हानि नहीं होती। वाल्मीकि, नारद, काक भुषुन्डी, परीक्षित, पट्वांग, अजामिल इत्यादि भक्त लोगों के चरित्र पुराणों में प्रसिद्ध हैं। विपत्ति पड़ने से, कठिन दुःख आने से, प्रेम ध्वंस होने से, उद्वेग से और उदासीनता आदिक से जब कभी अन्तःकरण में भारी चोट लगती है तब विचार और वैराग्य आने से किसी २ को मुमुक्षुता की प्राप्ति होती है। परीक्षित राजा का ब्राह्मण के शाप से अन्तःकरण जाग्रत हुआ, पट्वांग मरण के भय से सचेत हुआ, राजा चित्रकेतु का पुत्र शोक ने उपकार किया, वाल्मीकि प्रथम हिंसा करने वाले थे, सप्तऋषि के क्षण भर के समागम से कृतार्थ हुए, इस प्रकार आत्मोदय मात्र किस प्रकार के सम्बन्ध से कब और कहां हो, इसका कोई नियम नहीं है। इसलिये किसी मनुष्य को अभी संयोग प्राप्त नहीं है, वैराग्य प्राप्त होने का समय नहीं आया है, अभी तो बहुत सी झंझट है,

इत्यादि विचारों में अपने आयु को व्यर्थ खोना न चाहिये किन्तु आत्म तत्त्व की जिज्ञासा को तीव्र वेग देना चाहिये। ऐसे मुमुक्षुओं पर सद्‌गुरु की कृपा सहज में हो जाती है। सद्‌गुरु के पास मोक्षका दारिद्र्य नहीं है, वह खुले खजाने, चौड़े बाजार में अपने माल को लुटा रहा है, न्यूनता है तो लेने वालेकी ही है। जो सच्चा भूखा है उसे अन्न दान देने वाले सैकड़ों हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिये अत्यन्त क्षुधातुर होकर चलने वाले को महा दानी-मोक्ष रूप अन्नका दान देने वाला, वेष, वर्ण, आश्रम, स्थिति, वय आदिक का विचार न करते हुए दान देता है।

आज से कोई चार सौ वर्ष पहिले काठियावाढ़ के जूनागढ़ शहर में दो भाई रहते थे। वे जाति के नागर ब्राह्मण थे, बड़ा भाई गृहस्थी को चलाता था और छोटा भाई जो नरसिंहराम नाम का था, छोटा होने से माता पिता का अत्यन्त लाड़ला था। माता पिताका छोटी उमर में देहान्त होने से वह अपने बड़े भाई के साथ रहा करता था। छोटा होने पर भी उसकी शादी हो गई थी परन्तु उसकी स्त्री अभी घर पर नहीं आई थी। नरसिंहराम अब कुछ बड़ा हो गया था तो भी काम काज कुछ नहीं करता था। उसका भाई उसे धन्धे में डालना चाहता था परन्तु वह धंधे में नहीं पड़ता था। वह विशेष पढ़ा हुआ न था और उसे किसी बात की परवा ही न थी। बड़े भाई का उस पर प्रेम था। परन्तु भौजाई का प्रेम तो ऐसा ही था जैसा आज कल देखने में आता है। दूसरे घर में पैदा हुई लड़की को भला, देवर पर प्रेम कहां से

हो ? नरसिंह की भौजाई उससे तुच्छ वचन कहा करती थी और गालियां भी सुनाया करती थी परन्तु नरसिंह पर उनका कुछ भी असर नहीं होता था। वह इस प्रकार के वचन कहा करती थी:- मैं तेरे लिये रोटी नहीं बनाऊँगी, बैल के समान इतना बड़ा हो गया है, काम काज कुछ नहीं करता, खाने के समय पर आ जाता है, इस लड़केको खिला, देख, वह टट्टी करने वाला है, उसे बाहर लेजा, टट्टी कराके उसके चूतड़ धो दे, मेरा हाथ अस्पर्श में है, गैया को पानी पिला ला इत्यादि कहा करती थी और उससे काम लेती थी। कभी तो भौजाई के कहे काम को नरसिंह कर देता था, कभी नहीं भी करता था, भाग जाता था। जब वह घर में आता तो उसकी भौजाई चन्डी का स्वरूप धारण करके कठोर वचन कहती थी परन्तु नरसिंह उसके वचनोंको इस कान से सुन कर उस कान से निकाल देता था। उत्तर न देने से कलह रूपी अग्नि बढ़ता न था।

नरसिंह का भाई स्त्री के कहने पर भी उस पर अप्रेम नहीं करता था, क्रोधित नहीं होता था। कभी तो वह स्त्रीको समझाता "बालक है, सुधर जायगा, तेरा नित्य नित्य इस प्रकार का कलह अच्छा नहीं है" और कभी नरसिंह को समझाता था "अब तू बड़ा हो गया है, कल तेरी स्त्री आवेगी, तेरे इस ढंग से वह किस प्रकार रहेगी ? ठलुआ बैठे हुए को हम कहां तक खिलावेंगे ? अब तू सुधर जा और धन्धे में लग जा !" नरसिंह और उसकी भौजाई पर इन वचनों का कुछ असर नहीं होता था, वे दोनों

उसके कहे अनुसार वर्तते न थे। नरसिंहराम को निश्चय था कि भौजाई मुझसे लड़ा करती है परन्तु भाई नहीं लड़ता, भाई का मुझ पर पूरा प्रेम है, वह मुझे घर में से निकालने वाला नहीं है। वह भाई के कहे अनुसार चलना चाहता था परन्तु चल नहीं सक्ता था। कोई दूसरा होता तो ऐसी भौजाई के साथ घड़ी भर भी न टिकता। धन्य है नरसिंहराम को! उसका बरफ के समान शीतल अन्तःकरण धैर्य को छोड़कर कभी गरम नहीं होता था। इस प्रकार का होना चाहे उसकी जड़ बुद्धि के कारण हो, चाहे भावी के अनुसार हो, यह नहीं कह सक्ते। जब भौजाई तेज होती थी तब नरसिंहराम उसे उत्तर नहीं देता था, उसे भौजाई के ऊपर द्वेष नहीं था, इसलिये बक बका कर भौजाई उसे भोजन दे दिया करती थी। इस प्रकार कई वर्ष व्यतीत हो गये। जैसे अधिक रगड़ने से चन्दन में भी अग्नि प्रकट हो आता है इसी प्रकार एक दिन नरसिंहराम गरम हो आया। प्रसंग ऐसा हुआ था कि उस दिन उसकी भौजाई किसी काम में रुक गई थी इसलिये रसोई बनाने में देर हो गई। नरसिंहराम को भूख बहुत लग रही थी इसलिये वह वारम्वार रसोई के स्थान पर जा जाकर देखने लगा, थोड़ी २ देर के बाद उसने कई चक्कर लगाये परन्तु रसोई न बनी। अनेक चक्कर में उसने देखा कि भौजाई रसोई बना रही है, अभी तक नरसिंहराम ने भौजाई से कुछ न कहा था, भौजाई उसको भोजन शाला में चक्कर लगाते हुए देखकर अपने दिल में कुढ़ रही थी इतने में वह उसे दिखाई दिया। उसको देखकर वह कहने लगी "आज मुझे काम में देर हो गई है, तू तरकारी सुधार

दे।" नरसिंहराम बात सुन करके बाहर चल दिया। उसके बाहर चले जाने से भौजाई आग बबूला हो गई! जो मुख में आया, कहने लगी। परन्तु उन शब्दों का सुनने वाला कोई वहां न था। बड़ा भाई मुनीमगीरी के काम पर से अभी भोजन करने को नहीं आया था। थोड़ी देर में जब रसोई तैयार हो गई और भौजाई बक बका कर चुप हो गई तब नरसिंहराम आया और थाली और पानी का लोटा भर कर भोजन करने के स्थान में जा बैठा। उसे देखकर भौजाई ने कहा "मैं आज तुझे भोजन न दूँगी।" नरसिंहराम ने हंसते मुख से कहा "आज बहुत देर हो गई है, मुझे भूख लग रही है, तू रोज कहती रहती है कि भोजन नहीं दूँगी, मैं भोजन करता ही रहता हूँ, मुझे परोस दे, पीछे जो कुछ कहना हो, कहियो, मैं खाते २ सब सुनूंगा।" उसकी भौजाई बहुत बकने वाली थी परन्तु निठुर नहीं थी, उसने देवर की थाली में भोजन परोस दिया। नरसिंहराम जल्दी २ भोजन के गप्फे लगाने लगा। उसने दाल खाई तो उसमें नमक न था, वह बोल उठा "वाहरी रसोई, रसोई कहीं ऐसी बनती होगी! दालमें नमक तो है ही नहीं।" भौजाई बोली "जल्दी के मारे भूल गई हूँगी, मैं तो ऐसी ही रसोई बनाऊँगी, खाना हो तो खाले नहीं तो उठ कर चल दे, बड़ी भारी कमाई करके आया है न, जा अपनी लखी (स्त्री) को बुला ला, अलग घर मांड कर रह, वह बहूरानी तुझे अच्छा २ भोजन बना कर जिमाया करेगी। मैं तो भोली भाली जैसी हूँ, वैसी ही हूँ।" नरसिंहराम बोला "थोड़ा नमक दे दे!" भौजाई ने तेजी से कहा "मैं नहीं दूँगी।" नरसिंहराम

क्रोध करके बोला "तब ! मैं भोजन नहीं करूँगा।" भौजाई ने कहा "उठ जा तब, किसके ऊपर हुकुम चलाता है ? निहाल करने को आया है ! बड़ा भारी कमाऊ पूत है !" नरसिंहराम उठ खड़ा हुआ। भौजाई बोली "जा काला मुँह कर ! अब कभी मेरे घर में न आइयो !" नरसिंहराम घर से बाहर निकला और विचारने लगा कि अब कहां जाना चाहिये। शहर के बाहर एकांत स्थान में एक शिवालय था, उसकी तरफ वह चला, रस्ते में उसका भाई आ रहा था, दोनों ने दूर से एक दूसरे को देखा परन्तु कोई बोला नहीं। नरसिंहराम शिवालय में जा बैठा। उसका भाई घर पर पहुंचा। स्त्री जल रही थी, उसने सब वृत्तांत पति को सुनाया। दाल में न डालने से बचे हुए नमक मिरच खूब भुर भुरा कर सब बात कही ! नरसिंहराम का भाई आज तक अपनी स्त्री की बातों में नहीं आया था, आज आ गया "आप ही भटक भटका कर घर पर आ जायगा, जायगा कहां, जहन्नुममें !" यह कहकर वह भोजन करके नौकरी पर चला गया। नरसिंहराम शिवालय में बैठा हुआ विचार करने लगा "भाई मुझे बुलाने आवेगा और घर पर ले जायगा, भाई या और कोई बुलाने न आया तो मैं घर पर नहीं जाऊंगा।" दिन बीत गया, रात हो गई, कोई बुलाने न आया। नरसिंहराम अपने निश्चय में पक्का रहा, "भूखा मरना अच्छा, फटकार के साथ घर पर जाना अच्छा नहीं, जो कुछ करेगा सो महादेव ही करेगा। कोई किसी का नहीं, माता पिता तो प्रथम मर ही चुके हैं, एक भाई का प्रेम था, वह भी मालूम हो गया, अब सिवाय परमेश्वर के और किसकी शरण है, मैं इस

शिवालय में तपश्चर्या करके परमेश्वर को प्रसन्न करूंगा नहीं तो प्राण त्याग दूंगा।" इस प्रकार उसे भौजाई के वचनों से संसार से तिरस्कार हुआ। संसार में उसे कोई अपना न दीखा! सात दिन तक उपवास करके उसने शंकर में चित्त लगाया, बुद्धि के अनुसार तीव्र मुमुक्षुता से, तीव्र वेग के साथ उपासना की। शंकर प्रसन्न हुए, विष्णु के दर्शन भी हुए और आगे अनेक चरित्र हुए। नरसिंहराम प्रसिद्ध ज्ञानी भक्त हुआ, उसने सच्चे दिल से अपना सब बोझ विष्णु पर डाल दिया था, वह नरसी मेहता, नरसी भक्त के नाम से प्रसिद्ध हुआ उसके बहुत से निर्गुण पद आज भी प्रसिद्ध हैं जिनसे उसके भक्ति ज्ञान का प्रसाद आज भी योग्य अधिकारी ले रहे हैं।

सच्ची मुमुक्षुता बिना कुछ नहीं होता, सच्ची मुमुक्षुता नीचे नहीं गिरती। एक बंगाली के लिये कहा जाता है कि वह श्रीमान् था। एक दिन मल्लाहन से उसके घर में कुछ माल लिया, किसी कारण नौकर को घर में से दाम लाने में देर हो गई। मल्लाहन ने पुकार कर कहा "अजी! बहुत देर हो गई! थोड़ा समय है, मुझे पार जाना है!" इस समय घर का मालिक घर के कमरे में बैठा हुआ विचार रहा था "मेरी उमर बहुत हो गई है। इस शरीर का समय समीप आ गया है। घर-प्रपंच छोड़ कर एकांत में रह कर भजन करने का कई बार विचार कर चुका हूँ, जाने का दिन भी निश्चय कर कर के फिसल गया, अब त्याग करना ही चाहिये, शास्त्र अनुकूल चौथेपन में त्याग अवश्य करना चाहिये, मैं कैसा

मूर्ख हूँ कि अभी तक फंस ही रहा हूँ !" इसी समय मल्लाहन का वचन ईश्वर वाणी के समान उसे सुनाई पड़ा ! उन वचनों ने अंतःकरण के अनेक भावों को हटा कर अपने ठहरने के लिये स्थान कर लिया । उससे अंतःकरण में चोट लगी, तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो आया, बंगाली उसी समय वहां से चल कर वृन्दावन पहुंचा और मरण पर्यन्त भक्ति भाव में ही आरूढ़ रहा । वह अत्यन्त श्रीमान् था, कुटुम्बी था, अनेक प्रकार के व्यवसाय में फंसा हुआ था । परंतु योग्य समय में मल्लाहन के वचन ने पूरा असर किया जिससे उसका श्रेय हुआ ।

तीव्र मुमुक्षुओं के व्यवहारिक कर्तव्य, आत्मिक युक्ति, भाव, विचार, अवलम्बन और आश्रय आदिक अनेक प्रकार के होते हैं, यह नियम नहीं है कि वे अमुक प्रकार के ही हों । नियम तो एक ध्येय का ही होता है, सबका ध्येय एक ही होता है । चाहे मुमुक्षु के सोपानके अनुसार मुमुक्षु हो अथवा विचार मुमुक्षु हो, अनन्य भक्ति वाला हो अथवा अहंग्रह उपासना वाला हो, ध्येय एक ही होता है । ध्येय एक होने से बुद्धि वृत्ति का सोपान सब में होता है, चाहे ज्ञात भाव से हो चाहे अज्ञात भाव से हो । योग वासिष्ठ में ज्ञानी की सात भूमिकाओं का जो वर्णन है, वह वृत्ति सोपान रूप ही है । ज्ञान भूमिकायें इस प्रकार हैं:—१ शुभेच्छा, २ विचारना, ३ तनुमानसा, ४ सत्त्वापत्ति, ५ असंसक्ति, ६ पदार्थाभाविनी, ७ तुर्यगा । इन भूमिकाओंके अनुसार बुद्धि की स्थिति सात प्रकार की है । परब्रह्म की चिन्मय महाशक्ति ही परिच्छिन्न अंश से वृत्ति रूप को प्राप्त हुई है । बुद्धि की वृत्ति आंतर और बाहर दो

प्रकार की प्रवृत्ति वाली है। जब बाहर प्रवर्त होती है तब बाहर के विषय का बोध होता है, और जब आंतर में प्रवर्त होती है तब आद्य तत्त्व की तरफ जाती है। ये सातों प्रकार की वृत्तियां बाहर के समान ही भीतर भी हैं। अज्ञानियों की बुद्धि बाहर प्रवर्त होती है और मुमुक्षुओं की उलट कर आंतर में जाती है। बाहर पदार्थ विषय है और आंतर स्वस्वरूप विषय है। यह मुमुक्षुओं का वृत्ति सोपान आंतर का है। उसको जानने से बहुत मदद मिलती है। सात सोपान इस प्रकार हैं:—१ युक्ता, २ संयुक्ता, ३ विलग्ना, ४ मग्ना, ५ शुद्धा, ६ लीना, ७ सहजा। प्रथम ज्ञान भूमिका शुभेच्छा है, जब संसार की तरफ वैराग्य होता है और विवेक कर के ईश्वर प्राप्ति की इच्छा होती है तब वैराग्य सहित ईश्वर प्राप्ति की जो इच्छा है, वह शुभेच्छा कहलाती है। इस लोक से लेकर ब्रह्म लोक और सब लोकों के पदार्थों की इच्छा शुभेच्छा नहीं है क्योंकि उनकी इच्छा संपूर्ण शुभ करने वाली नहीं है और अशुभ मिश्रित है, अशुभ से रहित नहीं है और मायिक होने से उत्पत्ति नाश वाली हैं। अपने आद्य स्वरूप—ईश्वर प्राप्ति की इच्छा ही शुभेच्छा है। इस शुभेच्छा की भी उत्पत्ति नहीं है क्योंकि वह नित्य है। अज्ञानियों को उत्पन्न होने के समान मालूम होने से उत्पन्न होती दिखाई देती है वस्तुतः उत्पन्न नहीं होती। आसक्ति युक्त व्यवहार में दबी हुई बुद्धि के वैराग्य से बाहर आने को शुभेच्छा कहते हैं। जब वह प्रपंच की तरफ से मुख फेर लेती है तब आत्मा की तरफ जाती है और वहां जाकर केवल आभास रूप से आत्मा को छूती है, आत्मा के आकार की नहीं होती।

आत्मा को छूने वाली होने से उसे युक्ता कहते हैं। युक्ता आभास रूप से बोध करती है, आभास रूप बोध अस्पष्ट होता है—सामान्य होता है—जैसे दूर के पदार्थ का बोध होता है इस प्रकार का होता है। वृत्ति का यह स्वभाव है कि वह जिस पदार्थ की तरफ जाती है, उसे छूती है, उसका आवरण भंग करके उसके आकार को धारण करती है, आवरण भंग हुए विना पदार्थ के आकार वाली नहीं हो सक्ती। पूर्व की मलिनता जिस वृत्ति को आत्मा के भाव को धारण नहीं करने देती, वह वृत्ति अयुक्ता कहलाती है क्योंकि आत्मा युक्त है। आत्म भाव की वृत्ति बाहरसे लौट कर आत्मा के अस्पष्ट आभास से छूती हो वह वृत्ति युक्ता है। जब बुद्धि की वृत्ति इस प्रकार की नहीं होती तब शुभेच्छा भी नहीं होती।

दूसरी ज्ञान भूमिका विचारना है। वैराग्य पूर्वक शास्त्र और सत्पुरुषों के समागम से आत्मिक भाव संस्कारों की वृद्धि करके सत् विचार में जो प्रवृत्ति है, उसे विचारना कहते हैं। जब शुभेच्छा वाली प्रथम भूमिका दृढ़ होती है तब विचारना की प्राप्ति होती है। विचारने योग्य परब्रह्म ही है, माया और माया का कार्य विचारने योग्य नहीं है। उसके विचारने से वास्तविक फल नहीं होता। माया और माया के कार्य का विचार त्याग तक ही है, त्याग के निमित्त ही है, ग्रहण के निमित्त नहीं है। प्रथम भूमिका में वैराग्य की तरफ विशेष और आत्मा की तरफ किंचित् लक्ष था। दूसरी भूमिका में वैराग्य की दृढ़ता और आत्मा के दृढ़ भाव सहित विचार में प्रवर्त होना, विचारना है। इस दूसरी

भूमिका में बुद्धि की वृत्ति संयुक्ता होती है। आत्मा की छुई हुई वृत्ति विशेषता से आंतर बाहर व्यापक हो, आत्मा के आकार की हो-आत्मा का विशेष ज्ञान हो, यह संयुक्ता है। सम्यक् प्रकार से युक्त हुई को संयुक्ता कहते हैं। जैसे बुद्धि की युक्ता वृत्ति में दूर पड़ा हुआ घट घट के समान होने से 'घट है' ऐसा जो कुछ दीखता था, उसके साथ में 'यह ठीक घट ही है' ऐसा जानने वाली वृत्ति संयुक्ता है। घट के अस्पष्ट बोध के बदले स्पष्ट बोध होना संयुक्ता है परन्तु 'घट मिट्टी का है, चीनी का, कागज का, तांबे का अथवा पीतल का है' ऐसा बोध जिसमें नहीं होता वह संयुक्ता है। इसी प्रकार संयुक्ता में आत्मा का कुछ आभास से बोध होता है और कुछ नहीं होता।

तीसरी ज्ञान भूमिका तनुमानसा है। प्रथम और दूसरी भूमिका का अभ्यास करके इन्द्रियों के अर्थ-विषयों में आसक्ति न होने को, मन के सूक्ष्म होने को तनुमानसा कहते हैं। प्रथम की दोनों भूमिकाओं में मन जो स्थूल वैराग्य वाला था उसका सूक्ष्म होना, वैराग्य से विषयों के सूक्ष्म अंश का भी त्याग होना तनुमानसा है। स्थूल मन स्थूल विषयों को और सूक्ष्म मन सूक्ष्म विषयों को ग्रहण करता है; इसी प्रकार स्थूल मन स्थूल त्याग को और सूक्ष्म मन सूक्ष्म त्याग को करता है। जब मन—बुद्धि वृत्ति सूक्ष्म होती है तब उसका द्रव—रस भी सूक्ष्म होता है और सूक्ष्माकृति—सफाई को धारण करने में समर्थ होता है। वृत्ति पिघली हुई धातु के रस के समान होती है, वृत्ति पदार्थ की तरफ

जाती है, उसे छूती है, पदार्थ के सांचे में भरती है और जब सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयवों में भी भर जाने योग्य होती है तब तनुमानसा कहलाती है। मुमुक्षुओं को बाहर के विषयों को छोड़ कर आत्मा की तरफ जाना है। जब बुद्धि की वृत्ति सूक्ष्म होती है तब ठीक ठीक तदाकार होती है, वह ही तनुमानसा और विलग्ना वृत्ति है। जब वृत्ति सूक्ष्म नहीं होती तब स्थूलता से ही बोध करके जिज्ञासा पूर्ण हुई समझ कर उसे छोड़ कर अन्य विषयों में भटकने लगती है उसे विषय सामान्य अथवा प्रतिकूल दीखता है। जब प्रतिकूल दीखता है तब उस बोध के संस्कारों की स्मृति को भी मिटाना चाहता है। ऐसा न होकर, बुद्धिकी वृत्ति सूक्ष्म होकर आत्म भाव में लग्न हो जाय, वहां से उलट जाने का स्वभाव निवृत्ति हो जाय, उसे लग्ना कहते हैं, वह ही तनुमानसा होती है।

चौथी ज्ञान भूमि सत्वापत्ति है। तीनों भूमिकाओं में जिसके लिये यत्न किया था, उसकी प्राप्ति रूप यह सत्वापत्ति है। इस भूमिका में ज्ञान होता है। यह ज्ञान की प्रथम भूमिका है। इस भूमिका वाला 'सब कुछ ब्रह्म है, ब्रह्ममय है' इस प्रकार विचारता हुआ सविकल्प समाधि में समाहित होता हुआ विचरता है। सब जो कुछ है, होगा और था सब ब्रह्म है, ऐसा अनुभव होने लगता है। जैसे कोई मनुष्य निद्रा में विचित्र स्वप्न देख कर जाग्रत होता है, जाग्रत में स्वप्न दृश्य स्मृति रूप से मालूम होता है, उस पर आस्था नहीं होती इस प्रकार वह समग्र जगत् को देखता है। जिस अवस्था में जाग्रत जगत् स्वप्नवत् हो जाता है,

वह सत्वापत्ति है। उसमें रही हुई बुद्धि की वृत्ति को मग्ना कहते हैं। जो मग्न हो, वह मग्ना है। विलग्ना में बुद्धि की वृत्ति टिकी हुई थी, अब वह जिस अंश में टिकी हुई थी, उसमें दृढ़ होती है। विलग्ना में अन्य में न जाते हुए मिल रही थी, अब दृढ़ता से—विशेषता से मिलती है। द्रव का सांचे में मिल कर द्रवता छोड़ कर पूर्ण रूप से सांचे की आकृति का होकर स्थिर होना मग्ना है। प्रथम आत्मिक भाव से विरुद्ध व्यवहारिक विषय जो प्रिय थे वे प्रथम और दूसरी भूमिका में अप्रिय हुए, तीसरी में आत्म-भाव सामान्य था, वह अब चौथी में विशेष प्रिय हुआ, उस में मग्न हुई वृत्ति मग्ना है। इस भूमिका में साधक-ब्रह्मवित् कहा जाता है।

पांचवीं ज्ञान भूमिका असंसक्ति है पूर्व की चारों भूमिकाओं के अभ्यास और संसर्ग से उनके फल रूप सत्व में आरूढ़ होना असंसक्ति है। चौथी भूमिका में हुए ज्ञान में विशेष स्थिति रूप यह पांचवीं भूमिका है। इस भूमिका में सब प्रकार की आसक्तियों से साधक रहित हो जाता है, ज्यों २ आसक्ति रहित होता है त्यों २ दृष्ट सुख की विलक्षणता होती जाती है। ब्रह्माकार भाव से स्थिति होती है, उस भूमिकाके अभ्यास के उत्तर में अद्वैत भावना रूप निर्विकल्प मार्ग को प्राप्त होता है। इस भूमिका वाला ब्रह्मविद्वर कहा जाता है। उस की बुद्धि की वृत्ति रूढा है। ग्रहण किये हुए आत्म तत्त्व में मग्न रह कर, आत्म तत्त्व में रुक कर

रहना रुद्धा है जिस प्रकार भ्रमर कमल की वास लेते हुए, उसी में बंद हो जाता है अपनी गति को रोक देता है, वह वृत्ति रुद्धा है।

छःठी ज्ञान भूमिका पदार्थाभाविनी है। इस भूमिका में अद्वैतावस्थान निर्विकल्प नाम की समाधि में स्थिति होती है। तत्त्व सिवाय सबका अभाव होना निर्विकल्प है। यह ज्ञान की उच्च भूमि है। इस भूमि में टिके हुए को ब्रह्म विद्वरीयान् कहते हैं। उसमें बुद्धि की वृत्ति लीना है। रुकी हुई वृत्ति भान रहित हो कर तत्त्वाकार होना लीना वृत्ति है, यदि आरंभ में विकल्प हो तो भी विषयाकार होने से लीन हो जाती है। वह स्व स्वरूप में ही लीन होती है। बुद्धि वृत्ति की भिन्नता निवृत्त हो कर चैतन्यमय होना लीना है।

सातवीं ज्ञात भूमिका तुर्यगा है। तुर्य नाम चौथे का है। जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति तीनों में वृत्ति रहती है, जाग्रत् और स्वप्न में भाव रूप होती है और सुषुप्ति में अभाव रूप होती है। जहां भावाभाव निवृत्त हो कर ज्ञान स्थिति हो, वह तीनों अवस्थाओं से चौथी होने के कारण तुर्यगा कही जाती है। यह बुद्धि वृत्ति की सहजावस्था कहने मात्र है, वस्तुतः तो बुद्धि और बुद्धि की वृत्ति का लय हो जाता है। इस भूमिका में टिके हुए को ब्रह्म विद्वरिष्ट कहते हैं। यह अंतिम भूमिका है परन्तु वस्तुतः ज्ञान स्वरूप है। जो तीव्र मुमुक्षु नहीं है उसे तीन भूमिकाओं का ही बोध होता है और उसकी बुद्धि की वृत्ति तत्त्व की तरफ झुक्ता,

संयुक्ता और विलग्ना तक ही पहुँचती है। मध्यम अधिकारी की वृत्ति कदाचित् मग्ना तक पहुंच जाती है। ध्यान निष्ठ भक्त और सविकल्प योगी पंचम भूमिका तक पहुंच सक्ते हैं। सविकल्प ज्ञानी छःठी भूमिका तक पहुंचते हैं। वृत्ति का स्वरूप और उसका क्रम जानने वाला सप्तम भूमिका को उल्लंघन कर जाता है। स्वयं व्यापकता ही सहजावस्था है।

पंचदशी, विचार सागर आदि ग्रन्थों में चिदाभास की अवस्थाओं का जो वर्णन है, वह भी ऊपर की सात भूमि और वृत्ति भूमि के अनुसार है। वह इस प्रकार है:—अज्ञान, आवरण, भ्रांति, परोक्ष ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान, शोक नाश और अति हर्ष। इन को समझ कर मुमुक्षुओं को क्रम से आभास को इतना सूक्ष्म करना चाहिये कि आभास की भिन्न प्रतीति का नाश होकर बोध स्वरूप हो जाय। तीव्र मुमुक्षु ही इस प्रकार अंत में स्वरूप को प्राप्त कर सक्ता है। मंद और मध्यम को श्रवण, मननादि अभ्यास चिरकाल तक करना चाहिये। ऐसे करते २ जब तीव्र मुमुक्षुता होगी तब ही ब्रह्म वीथि में चालू होगा। ऊपर की वृत्तियों और भूमिकाओं का वारम्वार विचार करना चाहिये, हम कहां तक पहुँचे हैं, इसका विचार करना चाहिये। पूर्ण उत्साह और वैराग्य से आगे पदारोपण करना चाहिये। अपनी स्थिति—योग्यता को जाने विना पैर के फैलाने से फिसलने का भय है।

सात भूमिका की पहिचान।

जगतपुर नाम का एक बड़ा शहर था। वहां देश परदेश के सब व्यापारियों का धन्धा बहुत चलता था। राजधानी का शहर होने से यह शहर बहुत रौनक वाला था। अनेक स्थानों पर पाठ-शालायें थीं। यज्ञशालाओं में वेद मन्त्रों की ध्वनि हुआ करती थी। सब वर्णोंके लोग वहां बसते थे। सेठ, साहूकार, जिमींदार और सरदार लोगों का वहां निवास था। कई कल के कारखाने भी शहर की शोभा में वृद्धि कर रहे थे। वहां से चारों दिशाओं में रेल जाती थी। शहर में एलेक्ट्रिक ट्राम्वे थीं। दक्षिण की तरफ कुछ दूरी पर समुद्र का तट था। वहां दूर दूर के देशों का माल आता था और शहर से बहुत माल विदेश को जाया करता था, शहर की तीनों दिशाओं में राज्यकी तरफके सरदारों और साहूकारों के बगीचे और बंगले थे। शहर के चारों तरफ कोट था, कोट के मुख्य नव द्वार थे। उत्तर की तरफ कोई भी प्रकट द्वार नहीं था। मुख्य बाजार की शोभा बहुत थी, सब प्रकार की सब देशों की वस्तुयें वहां मिलती थीं। ऐसा कहा जाता है कि माता पिता के सिवाय धन से सब कुछ खरीद कर सकते हैं परन्तु इस शहर में तो माता पिता को भी यदि कोई चाहे तो धन से ख़रीद कर सक्ता था। जितने पदार्थ संसार में होते हैं, सब वहां थे। मुख्य मार्ग पर गाड़ी, घोड़ा, ट्राम, बग्घी और मोटरों का शब्द हुआ करता था। जगत् का सब सामान, सब प्रकार के मनुष्य, पशु पक्षी देखने हों तो संसार के प्रदर्शन

रूप नुमायश गाह इस शहर में देख सकते थे। सब प्रकार के मजहब वाले वहां रहते थे इसलिये सब के आज्ञायों के स्थान, मन्दिर, मसजिदें, गिरजे आदिक थे। यदि इन्द्र भी एक वार इस नगरी को देखता तो अपनी इन्द्रपुरी से किसी प्रकार भी कम न देखकर आश्चर्य को प्राप्त हुए विना न रहता। उत्तर की तरफ आनन्दारण्य नाम का जंगल था। उस तरफ लोगों का आना जाना नहीं होता था। वहां जाने से लोग डरते थे। उन्होंने उस जंगल को शून्य, कांटों वाला और भयंकर समझ रक्खा था। आनन्दारण्यमें वहुत ऊंचे २ और खुशबूदार पेड़ थे। वायु शीतल था। परन्तु शहर वालों को उन पेड़ों की हवा अच्छी नहीं लगती थी, वहां की शीतल हवा को वे लोग विषैली समझते थे और वहां शेर, बघेरा, रीछ आदि होने की भी शंका करते थे, इसलिये वहां कोई जाता न था। शहर के आसपास के सब स्थानों से यह स्थान निर्जन था, आनन्दारण्य के आरम्भ होने के स्थान पर एक मनुष्य एक पर्ण कुटी डाल कर रहा करता था। उसकी जाति मालूम नहीं होती थी, वह साधु है या गृहस्थ है, यह भी देखने से मालूम नहीं होता था, वह किस मजहब का है; यह भी जानने में नहीं आता था। इस पुरुष की रहन सहन विलक्षण थी, कभी राजसी ठाठ से रहता था, कभी लँगोटिया वन जाता था, कभी सूखे टुकड़े खाने लगता था और कभी माल मलीदे उड़ाता था। अपने स्थान से वह शहर में कभी नहीं जाता था और किसी मजहब का पक्षपाती न था। कभी २ कोई २ मनुष्य उसके पास आया जाया करता था। खाने पीने आदिक की

वस्तुय शहर में से उसके पास पहुंच जाती थीं। कभी तो वह महान् पंडित हो, इस प्रकार शास्त्र का प्रवचन करता था, कभी पागल के समान बकता था। कोई २ उसके उपदेश को ग्रहण करने के लिये सुनते थे परन्तु उपदेश इतनी उच्च कोटि का था कि उसका श्रवण करना और ग्रहण करना दोनों ही कठिन थे तो भी पृथिवी निर्बीज न होने के कारण श्रवण करने वाले और ग्रहण करने वाले निकल ही आते थे। वह पुरुष आनन्दारण्य के दरबान रूप से बैठा हुआ था, जब किसी को आनन्दारण्य में जाना होता तो वह वहां जाकर उसकी परवानगी लेकर, उसकी तरफ से मिला हुआ पास लेकर ही जा सकता था। यह दरबान है, किसकी तरफ से बैठा है, किसने बैठाया है, यह बात उस नगर के राजा आदिक कोई भी नहीं जानते थे, न जानते हुए भी सब उस पुरुष का सन्मान करते थे। इस विलक्षण पुरुष का नाम स्वामी उपदेशानन्द था, उसको आनन्दारण्य का एक ठेकेदार ही समझो! जो थोड़े मनुष्य कभी २ उपदेश श्रवण करने आते थे, वे उपदेश सुन कर फिर शहर में चले जाते थे, बहुत कम मनुष्यों को आनन्दारण्य में जानेकी परवानगी मिलती थी, कभी कोई मूढ़ दुराग्रह से स्वामी की आज्ञा लिये विना आनन्दारण्य में घुसता था तो उसे कष्ट पाकर अंधा होकर लौटना पड़ता था।

(१) एक दिन स्वामी को विचार हुआ कि कितने ही मनुष्य मेरे पास आकर, परवाना लेकर आनन्दारण्य में गये हैं; उनमें

से कई तो अपने स्थान पर पहुँच गये होंगे और कई आनन्दारण्य में ही होंगे, उनको जाकर देखना चाहिये कि उनकी क्या हालत है। यह आनन्दारण्य ज्ञान की भूमिका रूप है, लौकिक ज्ञान-अज्ञान की भूमिका रूप नहीं है। आनन्दारण्य तत्त्व ज्ञान, आत्म ज्ञान अथवा जिसे ब्रह्मज्ञान कहते हैं, उसकी सीढ़ियां हैं। लौकिक ज्ञान परिच्छिन्न है और आत्म ज्ञान अखंडित है, इस भाव से तो आत्म ज्ञान की भूमिकाओं का कहना भी संभव नहीं है। आत्म भाव में व्यवहारिक ज्ञान की स्थिति की तारतम्यता से ज्ञान की सात भूमिकाओं का भेद है ज्ञान में भेद नहीं है, अज्ञान में ही भेद है तो भी मुमुक्षुओं को अपनी स्थिति समझने के लिये और ज्ञान की दृढ़ता के लिये उपयोगी है। सातों भूमिकाओं का पूर्ण होना ही ज्ञान है, सच्चिदानन्द रूप है। यह ही अज्ञान निवृत्ति से ब्रह्म कहलाता है। सत्यावबोध और मोक्ष दोनों उसके नाम हैं। गये हुए मुमुक्षुओं से जाकर पूछना चाहिये। अपनी २ भूमिका के अनुसार वे अपने मुख से ही अपनी स्थिति का वर्णन करेंगे; ऐसा विचार कर स्वामी ने आनंदारण्य में प्रवेश किया। लोगों को जंगल दीखता था परंतु स्वामी को वह नंदन वन के समान दीखता था। यद्यपि स्वामी का भूमिकाओं से सम्बन्ध नहीं था तो भी भूमि में टिके हुए पुरुषों को जानने के निमित्त वह भूमिका वाला होकर विचरता था। इस प्रकार स्वामी की चेष्टा अक्रिय चेष्टा ही थी, विहार मात्र थी। आनंदारण्य पहाड़ पर था। थोड़ी दूर जाकर स्वामी को एक मनुष्य दिखाई दिया। उसकी दृष्टि कुछ २ पहाड़ के ऊपर की तरफ थी और

विशेषता से नीचे के रमणीक दीखते हुए शहर पर थी। वह शहर के ऐश्वर्य की तरफ से अपनी वृत्ति को हटाता था परंतु उसकी वृत्ति वारंवार ऊपर जाती हुई भी शहर की तरफ चली जाया करती थी।

स्वामी ने कहा "हे पथिक! तेरा क्या नाम है? तेरा क्या आचार है?" मनुष्य बोला "गुरु महाराज! नमस्कार! दंडवत् नमस्कार! मेरा नाम शुभेच्छुकलाल है! मैं आपके पास से ही इस अरण्य में आया हूं! मैं ऊपर चढ़ना चाहता हूँ, परंतु मुझसे जल्दी से ऊपर नहीं चढ़ा जाता, प्रयत्न में लग रहा हूँ!" स्वामी ने कहा "शुभेच्छुक! ठीक है! अनेक जन्मों के कर्मों से मलिन हुआ अंतःकरण शुद्ध हुए विना सद्विचार की प्राप्ति नहीं होती, तूने अंतःकरण कुछ शुद्ध किया है, कुछ और शुद्ध करना चाहिये। निरंतर प्रवाह रूप से चलने वाली अविद्या नदी को शास्त्र और सत्संग विना तैरना कठिन है। सत्संग से ही शुभ विचार का उदय होता है। जिसने ज्ञान के अधिकारी के चारों साधन विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता का न्यूनाधिक प्रमाण में भी सेवन किया है, उसे ही सत्संग की प्राप्ति होती है। ग्रहण करने योग्य क्या है और त्यागने योग्य क्या है, इसका विचार सत्संग से ही होता है।" शुभेच्छुक बोला "महाराज मैं सत्संग और सत्शास्त्र में प्रवर्त हो रहा हूँ। मुझको मालूम होता है कि मैं इतने दिन तक मूढ़ ही रहा। आहा! मैं बहुत जन्मों तक भटकता रहा। इस जन्म में भी मैंने बहुत सी उमर वृथा ही खोई! बस! अब

मैं अपना श्रेय अवश्य करूंगा! जिसका परिणाम गर्भवास आदिक अपवित्र स्थानों में गिरना और दुःख है उसके निमित्त अनेक प्रकार के कर्म करके समय को खोता रहा! बड़े खेद की बात है! कूटस्थ स्वरूप जिसमें क्रिया करके किसी प्रकार का विकार नहीं होता और जो परम शांति स्वरूप है, वह कूटस्थ क्या है? उसको जान कर मुझे अवश्य प्राप्त करना चाहिये, ऐसा विचार होता है और जगत् के ऊपर तिरस्कार आता है, सब जगत् दुःख रूप मालूम होता है परंतु मेरा मन ऐसा बदमाश है कि तिरस्कार होते हुए भी वारंवार जगत् और जगत् के पदार्थों में दौड़ा करता है। आपकी कृपा से मुझे मालूम होता है कि मैं ज्ञान की प्रथम भूमिका शुभेच्छा रूप इस आनंदारण्य में आया हुआ हूँ। मैं वैराग्यवान् होकर संसार समुद्र से किस प्रकार तैर जाऊं, ऐसा विचार परायण होने से भोग और भोग के साधनों की चिंता-प्रीति छोड़ता जाता हूँ। चिंता प्रति दिन कमती होती जाती है और मैं विचारानंद को प्राप्त होता जाता हूं। जब कभी प्रापंचिक मनुष्यों की किसी चेष्टा को देखता हूँ तो अपने जी में खिन्न होता हूँ और उनकी मूढ़ता पर मुझे दया आती है। जहां तक बने वहां तक मैं अपने को ऐसी चेष्टा से रोकता हूँ, किसी की निंदा नहीं करता, सत्संग, ईश्वरोपासना, जपादि क्रिया और पुण्य कर्म जो चित्त शुद्धि के हेतु हैं, उनको किया करता हूँ। जिनमें मुझे अथवा दूसरे को उद्विग्नता न हो, जिनमें प्रयास थोड़ा और फल विशेष हो, ऐसे यम नियम आदिक कर्मों का सेवन करता हूं। पाप से डरता रहता हूँ, भोग में पाप अवश्य होता है,

ऐसा मानता हुआ भोग की इच्छाओंको तोड़ देता हूँ। कोई कभी हो जाती है तो बहुत पश्चात्ताप करता हूँ, स्नेह, नम्रता और कोमलता सहित योग्यतानुसार युक्त वचन बोलता हूं, देश काल और वस्तु के अनुसार अपने को अलिप्त रखने का यत्न करता हुआ व्यवहार करता हूँ और मेरा मुख्य व्यवसाय तो शास्त्र श्रवण ही है।" स्वामी ने कहा "हे शुभेच्छुक! तू मार्ग में प्रवर्त हुआ है, वैराग्य सहित जब पूर्ण प्रयत्न में लगेगा तब ही इस भूमिका से ऊपर की भूमिका में जा सकेगा। उत्साह सहित प्रयत्न में लगे रहना चाहिये, समझ कि अभी दिल्ली बहुत दूर है! अच्छा! मैं आगे जाता हूं!" यह कह कर स्वामीजी आगे चले।

(२) थोड़ी दूर चलने के बाद एक मनुष्य देखने में आया, जो ऊपर चढ़ने का प्रयत्न कर रहा था, वह ऊपर चढ़ता जाता था, जब थक जाता था तब थोड़ी देर खड़ा रह कर विश्राम ले लेता था। शुभेच्छुक की शहर और ऐश्वर्य की तरफ जितनी वृत्ति दौड़ती थी उतनी इसकी नहीं दौड़ती थी तो भी कभी २ इसकी वृत्ति भी शहर के भोग और ऐश्वर्य की तरफ दौड़ जाती थी। यह पुरुष वृत्ति को रोकने का प्रयत्न करता था, कभी तो रोक लेता था और कभी रोक नहीं सक्ता था। इस पुरुष में धैर्य, उत्साह, प्रयत्न और वैराग्य शुभेच्छुक की अपेक्षा विशेष था। सत्शास्त्र और ब्रह्म विचार में इसकी दृढ़ता प्रथम से विशेष थी, स्वामी ने पास जाकर कहा "हे पथिक! तेरा क्या नाम है और तू किस आचार में प्रवर्त है?" गुरुदेव को सामने खड़ा हुआ

देखकर उस मनुष्य ने साष्टांग दंडवत् प्रणाम की और गुरु दर्शन से अपने को कृतार्थ हुआ समझने से उसकी मुख मुद्रा आभार दर्शक भाव से प्रसन्न हुई दीखती थी। सद्गुरु के दर्शन से वह गद्गद् हो गया और नम्रता से बोला "हे गुरुदेव! हे स्वामिन्! मेरा इस स्थान का नाम विचारचन्द्र है! मैं सदा विचार में प्रवर्त हूँ, इसलिये लोग मुझे विचारचन्द्र कहते हैं, आप, गुरु देव! आत्म तत्त्व में अनुभवी हो, उपदेश करने में कुशल हो, श्रुति स्मृति में कहे हुए आचार के अनुसार वर्तने वाले हो, यम, नियम और समाधि में निपुण हो, मैं आपके शरण हूँ! मुझे मालूम होता है कि मेरा दंभ, गर्व, मोह लोभादिक स्वभाव क्रमर से नष्ट होता जाता है, मेरा खाना पीना, लेना देना आदिक सब कार्य विचार पूर्वक होता है, मेरा मन शुभ मार्ग में प्रवर्त है, पहिले जितनी जबरदस्ती मेरे ऊपर करता था, अब उतनी जबर-दस्ती नहीं करता। विचार के संग से मन में निर्बलता आती जाती है। शास्त्र और गुरुपर श्रद्धा सहित और वैराग्य अभ्यास पूर्वक मैं गुरु सेवा में प्रेम वाला हूँ, इन्द्रियों पर मेरा काबू है, अनित्य के त्याग पूर्वक आप से और अन्य गुरुओं से श्रवण किये हुए का विचार किया करता हूँ। मनन ही मेरा मुख्य व्यवसाय है, सत्संग और सन्त सेवा से असंभावना रूप दोष निवृत्त होता जाता है और आत्म स्वरूप का कुछ २ रहस्य जानने में आता जाता है।" स्वामी ने कहा "ठीक है! तेरे कहने से तू ज्ञानकी दूसरी भूमिका विचारणा में है। अब तू यह बता कि जाग्रत जगत् और व्यवहार तुझे किस प्रकार मालूम होता है?" विचारचंद बोला "आपने ठीक

पूछा; यह सब संसार मुझे प्रथमकी जाग्रत अवस्था रूप ही मालूम होता है परन्तु प्रथम जो मुझे स्वाद वाला दीखता था, अब स्वाद रहित-निरस दीखता है। मेरी अवस्था जाग्रत ही है परन्तु जाग्रत के रस से, जाग्रत के दबाव से रहित यह जाग्रत अवस्था विचार से दबी हुई है।" स्वामी बोले "ठीक है! तुझे अपने प्रयत्न को और बढ़ाना चाहिये, उत्साह से आगे चल, जिस तत्त्व का तू मनन कर रहा है, उसे दृढ़ कर; तुझे आगे की भूमिका की प्राप्ति होगी और कुछ नया ही रंग दीखेगा! अब मैं जाता हूँ!" यह कह कर स्वामीजी आगे चले।

(३) स्वामी थोड़ी दूर चले होंगे, कि एक मनुष्य दूर से ऊपर चढ़ता हुआ दिखाई दिया, प्रथम के दो मनुष्यों से यह मनुष्य अपने कार्य में विशेष दत्त चित्त था, दृढ़ता से आगे चला जा रहा था, इसकी वृत्ति पीछे की तरफ नहीं जाती थी। वह जिस स्थान पर था, वहां से जगत् और जगत्के भोग स्पष्टता से दीखते भी न थे. वह आगे जानेमें अपना जोर लगाता था परन्तु कभी २ उसका पैर फिसल जाता था, उसी समय वह संभाल लेता था और आगे चलने में लग जाता था। उसके फिसले हुए पैर से गिरी हुई कंकरियां कितनीक दूर तक नीचे गिरी हुई मालूम होती थीं। जिस प्रकार शुक्ल पक्ष में चन्द्र दिन पर दिन बढ़ता जाता है वैसे ही वह अपने मार्ग में बढ़ता जा रहा था, स्वामीजी ने उसके पास पहुंच कर कहा "हे पथिक! तेरा क्या नाम है और तू कौन से आचार में प्रवर्त है?" उस मनुष्य ने प्रेम दृष्टि से स्वामी की

तरफ देखा और नमन करके कहा "स्वामिन्! आपने बड़ी कृपा की, जो अपने दर्शन दिये! सत्पुरुषों का संग और गुरुदेव की कृपा सब प्रकार के विघ्नों को निवृत्त करती है! आप सर्वज्ञ हो, मैं अपना नाम बताता हूँ, मेरा नाम तनुमनिशंकर है। यह नाम सच्चा हो या झूंठा, इस स्थान पर लोग मुझे इसी नाम से पुकारते हैं। श्रवण मनन पूर्वक मैं निदिध्यासन में प्रवर्त हूँ, विषयों में से मेरी आसक्ति हटती जा रही है, मन अत्यन्त सूक्ष्म हो गया है, मन की सूक्ष्मता मुझे सविकल्प समाधि तक पहुँचा देती है, मन इस प्रकार सूक्ष्म होने से मैं जानता हूँ कि मैं तनुमानसा नाम की ज्ञान की तीसरी भूमिका पर हूँ, फिर भी मन के वेग को कमती करने के लिये श्रवण मनन के निदिध्यासन करने में प्रवर्त हूँ, यह स्थान असंग है इसलिये कोई कोई इस भूमिका को असंग भी कहते हैं, मेरी बुद्धि शास्त्रानुकूल आचरण में स्थिर होती है, मैं तपस्वियों के आश्रम में विश्राम लेता हूं और आत्म चर्चा करता रहता हूं, इन्द्रियों के विषयों से वैराग्य करता हूं, और वैराग्य दृढ़ करने के लिये संसार और संसार के पदार्थों की निन्दा भी किया करता हूँ, जाग्रत जगत् मेरी स्मृति और संस्कारमें है और उसको मैं देखता भी हूँ इसलिये मेरी जाग्रत ही अवस्था है परन्तु अवस्था का भाव तुच्छ हो गया है, जैसे बहुत बूढ़े मनुष्यों की क्षीण हुई जाग्रत अवस्था हो ऐसी ही मेरी जाग्रत अवस्था है, शिला अथवा पृथिवी आदि स्थानों पर शयन करता हूँ, विक्षेप वाले स्थानों पर समाधि का अभ्यास नहीं करता, एकांत स्थान मुझे बहुत प्रिय है, चित्त को शांत रखने के लिये विशेष समय एकांत में रहता हूं

और वहां ही अभ्यास किया करता हूँ, वहां मुझे असंगता का सुख मिलता है, और विशेष असंगता के लिये मन बुद्धिसे प्रयत्न करता हूँ, सुने हुए शास्त्रों को भी संत के मुख से सुनने की वार-म्वार रुचि होती है और पुण्य कर्म करने की तरफ भी चित्त लगता है, जब चित्त निर्मल होता है और बुद्धि तीव्र होती है तब बोध भी ठीक होता है, मैं इस स्थान पर सामान्य और विशेष दोनों प्रकार की असंगता का अनुभव करता हूँ, 'मैं कर्ता नहीं हूँ, भोक्ता नहीं हूँ, बाध्य नहीं हूँ, बाधक नहीं हूँ' इस प्रकार दृश्य पदार्थों में संग न होना, सामान्य असंगता कहलाती है, प्रथम की दो अवस्थाओं में भी इस असंगता का थोड़ा २ भान होता था, अब उसका स्पष्ट भान होता है, दूसरी विशेष असंगता सूक्ष्म है, सुख और दुःख ईश्वराधीन है, अथवा पूर्व जन्म के कर्म अनुसार है, इसमें मेरी स्वतंत्रता नहीं है, तब मेरा कर्तापना कहां है ? कुछ भी नहीं है, इस प्रकार विशेष असंगता का बोध होता है, भोग और वैभव रोग का साधन हैं, संपत्ति ही आपत्ति रूप है, संयोग का परिणाम वियोग है, मन चिंता और व्याधिओं का कारण है, काल सब पदार्थों को हमेशा खाया करता है, श्रवण, मनन और आत्म ज्ञान के अभ्यास से असंभावना की निवृत्ति हुई है और परम तत्त्व हाथ में आंवले के समान मालूम हो रहा है, यद्यपि मैंने उसका स्वाद नहीं लिया है तो भी वह सन्मुख है। मुझे यह दृढ़ निश्चय है कि मैं कर्ता नहीं हूँ, ईश्वर ही कर्ता है, संचित अथवा क्रियमाण कोई कर्म मेरा नहीं है, या है, इस प्रकार के विकल्प वाले शब्दों के अर्थ दूर छोड़ कर शांत रहता

हूं, यह ही श्रेष्ठ असंगता है, मेरे अन्तःकरण की वृत्तियां, ब्रह्म में एक रस होकर रहती हैं, भीतर बाहर कोई अवलम्बन नहीं रहता, जिसमें ऊपर के लोक, नीचे के लोक, अन्तरिक्ष, पृथिवी आदि पदार्थ, वंध्या पुत्रादि अपदार्थ, जड़ अथवा चैतन्य किसी का भी अवलम्बन नहीं है।" स्वामीजी बोले "तेरे कहने से तू ज्ञान की तीसरी भूमिका में स्थित है, अब ज्ञान होने में तुझे विशेष विलम्ब नहीं है, अपने प्रयत्न को उत्साह पूर्वक बढ़ाता जा, अभी तक की तीनों भूमिकायें साधन भूमिकायें कहलाती हैं, आगे की भूमिका में अपरोक्ष ज्ञान होता है, अपरोक्ष ज्ञान होने के बाद फिर नीचे कभी नहीं गिरता, क्रम क्रम से ऊपर की भूमिकाओं में जाता है, कोई सत्वर जाता है, कोई विलम्ब से जाता है, परन्तु अज्ञान में नहीं पड़ता और आरम्भ की तीन अवस्थाओं में से तो कई संयोगों से अज्ञान में पड़ जाने का संभव ही है, अब इस भूमिका से आगे बढ़ते ही अन्य प्रकाश से रहित, शांत, आकाश के समान निर्मल प्रकाश, अनादि, अनन्त, जन्म रहित स्वस्वरूप प्रकाश करेगा, ऐसी निर्विकल्प समाधि में स्थिति होना, श्रेष्ठ असंगता है, वह ही ज्ञान है, तेरा कल्याण हो, अब मैं जाता हूँ !" यह कहकर स्वामीजी आगे चले।

(४) आगे चलते हुए दूर पर नजर फेंकी तो सामने की जमीन सपाट थी विशेष झाड़ी न थी, कंकर पत्थर भी कम थे, रस्ता साफ था, और रमणीक मालूम होता था, चलने वाला वहां आनन्द से चल सक्ता था, वहां के वायु से चित्तमें प्रसन्नता आती

थी, वहां से शहर और शहर के ऐश्वर्य का दृश्य ठीक रीति से देखने में नहीं आता था, वहां का शीतल और शांत वायु मन को वहां ही रोक रखता था, वृत्ति स्थिर होती थी, नीचे ऊपर, भीतर बाहर के आकारों और संस्कारों के साथ चित्त का संग नहीं होता था, वहां एक मनुष्य को जाते हुए देख कर स्वामी जी ने उस के पास जाकर कहा "हे पथिक! तेरा क्या नाम है और तू किस आचार में प्रवर्त हो रहा है?" उस मनुष्य ने शब्द की तरफ मुख किया तो गुरुदेव मालूम हुए। नमन करता हुआ बोला "जय सच्चिदानन्द! गुरुदेव की जय! आपकी अतुल कृपा से मैं इस स्थान पर आ पहुँचा हूँ, मुझ जैसे अबुद्धि को यहां तक आ पहुँचने में आप का सदुपदेश ही मार्ग दर्शक रहा है, अब मैं इस स्थान पर सत्व लाल हुआ हूं, यह ही मेरा नाम समझो! अभी तक मार्ग चलने में मैंने बड़ा परिश्रम उठाया है, मार्ग भी विकट था अब सरल मार्ग आ पहुंचा है, अब मुझे तसल्ली है, अभी मुझे आगे जाना है तो भी प्रथम के समान घबराहट नहीं है, आगे का मार्ग अब शांति से तै करूँगा, परमानन्द की प्राप्ति रूप मेरी प्रवृत्ति है, तीनों भूमिकाओं के अभ्यास से बाहर के पदार्थों के संस्कारों का उच्छेद होने से मेरे लिये अत्यन्त विरक्तता है, माया और मायाके कार्यकी तीनों अवस्थाओं में शुद्धि होने से सन्मात्र आत्मा के विषे त्रिपुटी का लय करके टिका हुआ हूँ, ऐसे साक्षात्कार पर्यंत मेरी स्थिति है, मैं समझता हूँ कि यह निर्विकल्प समाधि रूप मेरी अवस्था सत्वापत्ति है, मेरा नाम ज्ञानचन्द्र है।" स्वामी जी बोले "सच है, हे विद्वान्! तू ब्रह्मवित हुआ है, द्वैत

वासना, असंभावना और विपरीत भावना रूप दोष क्षय हुआ है, तुझे अपरोक्ष ज्ञान का उदय हुआ है और संपूर्ण जगत् एक रस आनन्द ब्रह्म दीखता होगा, द्वैत शांत हुआ है या नहीं ?" ज्ञानचन्द्र बोला "हां महाराज ! सत्य दीखता हुआ द्वैत निवृत्त होगया है, स्वप्न आने के बाद जाग्रत अवस्था में स्वप्नका दृश्य जिस प्रकार स्मृति रूप से दीखता है, इसी प्रकार मुझे यह जगत् दीखता है। स्वप्न के समान मिथ्या भाव से जाग्रत जगत् में कुछ भी विशेषता प्रतीत नहीं होती, मैं समझता हूँ कि ज्ञान की चौथी भूमिका में विद्वान् जो स्वप्न अवस्था कहते हैं, उसका यह ही मतलब है !" स्वामीजी बोले "हां ! ऐसा ही है, इस अवस्था में वासना का लय होजाता है इसलिये कोई कोई उसको विलापनी कहते हैं। तुझे तत्त्व के साक्षात्कार से अज्ञान और अज्ञान के कार्य का बाध हुआ है, आदि अन्त रहित विभाग रहित चैतन्य में चित्त स्थिर हुआ है, तुझे सब समान दीखता होगा, अनेक प्रकार की भेद भावना निवृत्त हो गई होगी। जगत् और इन्द्रियों का व्यवहार स्वप्न समान परतन्त्र होता होगा, सब कल्पनाओं का नाश हुआ होगा, जगत् के क्षण भंगुर और नाशवान् होने से किसी पदार्थ में भी राग द्वेष न होता होगा, तू ने अपने पुरुषार्थ की सफलता प्राप्त की है, अब धैर्य धारण करके देह रहते हुए जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द के लिये उत्साह धारण करके प्रवर्त हो, अब मैं जाता हूँ !" यह कहकर स्वामीजी आगे बढ़े।

(५) स्वामीजी आगे चल के देखते हैं तो मार्ग आगे से भी रमणीक और स्पष्ट दीखता है। वहां जो वायु का वहन हो रहा है, उसमें सतोगुण की शांति विशेष है, आगे एक मनुष्य को देखकर स्वामीजी ने कहा "हे विद्वान्! तेरा क्या नाम है? और तू यहां क्या कर रहा है?" उस मनुष्य ने स्वामीजी को देखकर प्रणाम किया, और कहा "हे स्वामिन्! मेरा नाम असक्तलाल है! चारों भूमिकाओं के अभ्यास से बाहर और भीतर के आकार और उन २ के संस्कारों के साथ चित्त के संसर्ग का अभाव हुआ है, सविकल्प समाधि के संस्कार पक गये हैं और उसका फल रूप निर्विकल्प समाधि मुझे प्राप्त हुई है, इस करके मुझे परमानन्द है, नित्य अपरोक्ष ऐसे आत्म भाव का साक्षात्कार हो रहा है, सब प्रकार से असंगता का बोध होता है, मैं जानता हूँ कि यह ज्ञान की पंचम भूमिका असंसक्ति है। अविद्या और अविद्या के कार्य का मुझसे सम्बन्ध नहीं है, कर्म फल में मुझे आसक्ति नहीं है, बाह्य वासना क्षीण होने से हमेशा आंतरमुख हो करके रहता हूँ, ब्रह्म वासना बढ़ती जाती है और क्रम क्रम से बाहर के पदार्थों का विस्मरण होता जाता है। चौथी भूमिका में संसार स्वप्न के समान प्रतीत होता था, अब वह प्रातिभासिक रूप से भी प्रतीत नहीं होता। केवल सुषुप्ति के समान पारमार्थिक सत्ता से जगत् का भान होता है, मैं शुद्ध अद्वैत में जाग्रत हुआ हूं, इसलिये आंतरमुख वृत्ति से आनन्द के स्वाद की समानता से सुषुप्ति कही है, मैं इससे विशेष दृढ़ स्थिति करने के प्रयत्न में हूँ!" स्वामीजी बोले "धन्य है तुझे! तू ने मेरे उपदेश को सार्थक किया है, तेरे

प्रयत्न से तुझे विशेष दृढ़ स्थिति अवश्य प्राप्त होगी ! तू विद्वान् हुआ है, आगे चल, प्रारब्ध का क्षय करते हुए जीवन्मुक्ति के आनन्द का अनुभव कर !"

(६) स्वामीजी वहां से आगे चले तो और भी विशेष आनंद दायक स्थान दिखाई दिया। वहां जो आनंद मालूम होता था, उसको स्वामीजी ही जानते थे। वहां भी एक मनुष्य देखने में आया। स्वामीजीने उससे कहा "हे विद्वान् ! तेरा क्या नाम है और तू किस तरफ जा रहा है ?" उस मनुष्य ने स्वामीजी को देखकर ॐ सच्चिदानन्द उच्चारण करते हुए सभ्यता दिखलाई और कहा "हे स्वामिन् ! आप से क्या छिपा है ? जिस स्थान पर आप हैं उस स्थान पर मैं जाना चाहता हूँ, मैं आत्माराम में स्थित हूँ; और दृढ़ता से टिकना चाहता हूँ ! मुझे आंतर और बाहर के पदार्थों की दृढ़ अप्रतीति हो रही है ! सब जगत् के पदार्थों का अभाव और तत्त्व का भाव हो रहा है, मैं समझता हूँ कि ज्ञानकी छठी भूमिका जो पदार्थाभावनी है, उसमें मेरी स्थिति हुई है इस-लिये मेरा नाम तत्त्वानन्द है, मुझे अन्य की प्रबल प्रेरणा से ही पदार्थों की भावना होती है। अन्य प्राणी की भावना से ही मेरे देह का निर्वाह होता है। मैं स्नान, भोजनादिक करता हूँ तो भी उन्हें देखता नहीं हूँ, प्रीति पूर्वक उनका सेवन नहीं करता, सब परेच्छा से हुआ करता है, मैं ब्रह्म में स्थिति वाला हूँ, ब्रह्म रूप हूँ, ऐसा जानता हूँ तो भी मन के लेश अंश से संसार की भावना मिथ्या रूप से होती है !" स्वामीजी बोले "धन्य ! धन्य ! तू

कृतार्थ हुआ है, तेरा कर्तव्य निवृत्त हुआ है, तुझे तुझ में जो कुछ कर्तव्य दीखता है, वह शरीर के शेष प्रारब्ध से है, हे विद्वान् ! तू विद्वारीयान हुआ है, मैं तुझ से पूछता हूँ कि तुझे संसार किस प्रकार दीखता है और तू स्वयं किस प्रकार दीखता है?" तत्त्वानंद बोला "स्वामिन् ! सब जगत् सुषुप्तिवत् हो रहा है, प्रथम अवस्था में जगत्को अबोध सुषुप्ति रूप देखता था, अब बोध सहित सुषुप्ति है और उसमें रहे हुए बोध को ही मैं अपना स्वरूप जानता हूँ, जब अबोध होता है तब अबोध में रहा हुआ बोध और बोध में रहा हुआ बोध मैं हूँ, व्यक्तित्व रहित बोध स्वरूप मैं हूं, मुझे जगत् शून्य रूप दीखता है इसलिये सुषुप्ति रूप कहता हूँ" स्वामीजी बोले "ठीक है, आगे बढ़, मैं जाता हूं !"

(७) आगे चल कर जो स्थान आया, उसका वर्णन स्वयं स्वामीजी भी नहीं कर सक्ते थे ! अनुभव ही कर सक्ते थे । इस अमृत के समान स्थान को देखकर स्वामीजी ने एक मनुष्य के समीप जाकर स्वयं हाथ जोड़ ऊँचा कर कहा "हे स्वामिन् ! आप कौन हो ? आप कोई दिव्य पुरुष दीखते हो ! आपका स्थूल शरीर दीखता हुआ भी किसी विलक्षण तत्त्व का बना हुआ हो, ऐसा मुझे दीखता है !" उस मनुष्यने ऊंची निगाह करके देखा, ऊंचा हाथ करके गंभीरता पूर्वक ॐ का उच्चारण किया और कहा 'हे स्वामिन् ! जो आप हो, सो मैं हूं, मैं चिरकाल के अभ्यास से और भेद की अप्रतीति से जाग्रतादि तीनों अवस्थाओं को उल्लं-घन करके टिका हूँ, मैं इस अवस्था में ब्रह्म को अखंडित आत्म

स्वरूप जानता हूँ, इसलिये इस स्थान पर मेरा नाम आत्माराम है, यह अवस्था तुर्यगा चौथी होने से कोई २ मुझे चौथलाल कहते हैं, ज्ञान के परिपाक रूप अति पुण्य से बाध हुए प्रारब्ध कर्म से जीवन व्यवहार आभास मात्र रह गया है, प्राप्त पदार्थ से मैं प्रसन्न नहीं होता, अप्राप्त का शोच नहीं करता, सब स्थान पर मुझे आनन्द ही आनन्द है! मैं ब्रह्म लोक के आनन्द का स्वयं भोक्ता हूँ, इस शरीर में रहता हुआ भी ब्रह्म लोक में विद्यमान हूँ, निर्भय हूँ, अक्रिय हूँ, व्यक्तित्व रहित सर्वका प्रकाशक स्वयं ही स्वयं हूँ, मैं नहीं, तू नहीं और यह सब नहीं, जो कुछ है, नहीं है, दीखे न दीखे, सब कुछ परब्रह्म है, ॐ ॐ ॐ" स्वामीजी बोले "धन्य! धन्य! धन्य! तू संपूर्ण स्थिति को प्राप्त हुआ है, जो मैं हूं सो तू है, जो तू है सो मैं हूँ, सब से रहित एक अद्वितीय तत्त्व है, यह पूर्ण स्थिति है, जीवन्मुक्ति है और यह ही विदेह कैवल्य सबोध है!" ऐसा कहकर स्वामीजी वहां से लोकोद्धार के निमित्त अपनी पर्ण कुटी में लौट आये।

ऊपर सात मनुष्यों ने अपने २ अनुभव का जो वर्णन किया है, वह क्रम २ से ज्ञानकी सातों भूमिकाओं का वर्णन है। प्रथम शुभेच्छा, दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा, चौथी सत्वापत्ति, पांचवीं असंसक्ति, छःठी पदार्थाभाविनी और सातवीं तुर्यगा है, प्रथम की तीन भूमिकायें मुमुक्षुता रूप हैं, चौथी में ज्ञान होता है, पिछली तीन जीवन्मुक्ति की न्यूनाधिक स्थिति वाली अवस्थायें हैं, ये सात भूमिकायें एक सीढी के समान हैं, जो नीचे से लगी

हुई और छत तक पहुंच गई हैं, नीचे जगत् है और छत ब्रह्म रूप है। जितनी सीढी चढ़ता है उतना ब्रह्म के समीप पहुँचता है। सीढ़ी छोड़ने के बाद छत है, सीढी का नीचे से सम्बन्ध है, ये सातों भूमिकायें बुद्धिमान् मनुष्यों के लिये हैं, पशु, स्थावर, और म्लेच्छ बुद्धि वाले देहात्मवादियों के लिये नहीं हैं। कोई २ पशु आदि अपवाद रूप से संस्कारी होने से भले इन भूमिकाओं को प्राप्त होजांय, पशुओं में जैसे हनूमान आदि, म्लेच्छोंमें धर्म व्याध आदि असुरों में प्रह्लाद आदि और राक्षसों में कर्कटी आदि इन भूमिकाओं को प्राप्त होकर जीवन्मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। ज्ञप्ति से मुक्ति होती है, जैसे मृग जल सम्बन्धी बुद्धि की निवृत्ति होती है, जैसे सीपी में रूपे की निवृत्ति होती है, इसी प्रकार देहात्म बुद्धि की निवृत्ति होती है, उसको ही ज्ञान कहते हैं। कितने ही पुरुषों को अज्ञान रूप आवरण भंग होने से मोह की निवृत्ति होने पर भी प्रबल प्रारब्ध के कारण से परम पवित्र विदेह कैवल्य प्राप्त नहीं होता वे आत्माराम होकर ऊपर की भूमिका में रहते हैं, कितनेही सनकादिक केवल सात भूमिकामें ही रहते हैं, कितनेही तीन भूमिकाओंको प्राप्त होते हैं, कितनेही सातवीं भूमिकाको प्राप्त होते हैं, कितनेही चार भूमिकाओंको प्राप्त होते हैं, कितनेही दो में रह जाते हैं, कितनेही भूमिका के चौथे भाग को प्राप्त होते हैं, कई आध को प्राप्त हुए हैं, कई साढ़े तीन, कितने ही साढ़े चार, साढ़े पांच, साढ़े छः को प्राप्त हुए हैं, इन भूमिकाओं में फिरने वाले पुरुष आंतर विषय, बाह्य विषय और शरीर का आत्मा में लय करने का प्रयत्न किया करते हैं। जो इन्द्रियजित

और मनोजित धीर पुरुष हैं, वे ही इन भूमिकाओं में जय प्राप्त करते हैं, वे ही सर्वोत्कृष्ट राजा हैं, सातों द्वीप के राज्य को तृणवत् तुच्छ समझते हैं, और स्वात्म साम्राज्य (स्वरूपानन्द राज्य सुख) को ही सर्वोत्कृष्ट समझते हैं। जो इन भूमिकाओंको जीतने वाला है, वह महान् है और वंदनकरने योग्य है। सातवीं भूमिकामें सम्राट और विराट देह भी तृण समान तुच्छ है। सात भूमिकाओं से पर ज्ञानी विदेह कैवल्य सुखका इसी देह और इस लोक में ही अनुभव करता है।



जीवन्मुक्ति ।

अविद्यांधकार में फंसे हुए वास्तविक मुक्ति की इच्छा नहीं करते । मुक्तता उन लोगों की कल्पना से दूर और अनुमान से भी बाहर है । जब वे शास्त्र अथवा सज्जनों से मुक्ति के विषय में सुनते हैं तब अपनी बुद्धि के अनुसार मुक्ति की कल्पना कर लेते हैं । उन लोगों ने भौतिक ऐश्वर्य में ही सुख समझ रक्खा है इस-लिये जिसमें इस प्रकार का विशेष सुख हो और जिसमें मरने जन्मने का कष्ट भोगना न पड़े उसे ही वे लोग मुक्ति समझते हैं, विशेष सुख हो और उसका अनुभव करने वाला व्यक्ति भी हो, इसको वे मुक्ति समझते हैं, जहां दुख न हो और सब इन्द्रियों के पूर्ण सुख प्राप्त हों, ऐसे किसी विशेष स्थान में मुक्ति मानते हैं । इस प्रकार का ऐश्वर्य-भोग इस जगत् में है नहीं इसलिये किसी विशेष स्थान को मुक्तिस्थान और परलोक मानते हैं इसलिये वे ऐसा भी कहते हैं कि इस शरीर के बाद दिव्य शरीर से ही मुक्ति होती है । इसलोक में इस शरीर से जो कोई मुक्त है, उसको वे लोग मुक्त के रूप से देख नहीं सक्ते क्योंकि स्थूल शरीर का व्यव-हार जैसा वे अपना देखते हैं ऐसा ही शरीरधारी ज्ञानी का व्यव-हार देखते हैं और वे मुक्तता में जिस प्रकार का ऐश्वर्य मानते हैं ऐसा ऐश्वर्य भी उनको ज्ञानी के पास नहीं दीखता । इन सब कारणों से शरीर होते हुए मुक्त होने की कल्पना भी उनकी समझ में नहीं आती । विचार कर देखा जाय तो मरने के बाद मुक्त होना हो ही नहीं सकता । जिसने जीते जी मुक्ति प्राप्त नहीं की

वह मरने के बाद प्रेत होकर क्या कर सकता है। जीते जी मुक्त हुआ ही मरने के बाद मुक्त होता है। जो प्रथम मुक्त होता है वह देहान्त में विदेह कैवल्य को प्राप्त होता है। इसीलिये श्रुतियों में वारंवार कहा गया है कि मुक्त होकर मुक्त होता है। स्वर्गलोक अथवा ब्रह्मलोक की प्राप्ति वास्तविक मुक्ति नहीं है, वह मुक्तता और अमरपना जगत् की अपेक्षा से है, परमपद नहीं है। आपेक्षिक अमरपना भी कर्म और ज्ञान भाव के अनुसार है। वह भी जब मरने के प्रथम सूक्ष्मता में होता है तब ही शरीरांत में फल देता है। यदि इस जगत् में उसका प्रयत्न अथवा तैयारी न हो तो शरीरांत में कुछ भी नहीं होता। मुक्ति चाहे आपेक्षिक हो चाहे परम हो, प्रत्यक्ष फल वाली है। मुक्ति शरीर की नहीं है, भाव की है। मन करके ही बंधन और मोक्ष है जब मन दिव्य ऐश्वर्य-भाव युक्त हो तब देवता स्वरूप है और वह ही मन अमन होकर आत्म ज्योति में एकता को प्राप्त हो तब परमपद है।

परमपद जिसे मोक्ष कहते हैं, किसी प्रतिबंध के न होने से होता है। परमतत्त्व को कोई प्रतिबंध करने वाला है नहीं तो भी जब अनादि अविद्या में पड़े हुए जीवों को परम तत्त्व का बोध नहीं होता तब अज्ञान युक्त जीव को अज्ञान और अज्ञान के पदार्थ परम तत्त्व के जानने से रोकने वाले हैं। माया और मायिक पदार्थों से परम तत्त्व का विरोध नहीं है। जब ज्ञानी परम तत्त्व को प्राप्त होता है तब उसे भी माया और मायिक पदार्थ बाध रूप नहीं होते इसीलिये मायिक शरीर आदि होते हुए भी ज्ञानी परम तत्त्व

में टिक सकता है। परम तत्त्व माया से ढक नहीं सकता किन्तु माया का भी प्रकाशक है। जब तक अज्ञान है तभी तक शरीरादि परम तत्त्व के बोध में बाधक होते हैं, बोध होने के बाद बाधक नहीं होते। जब तक बोध नहीं होता तब तक माया के दबाव में पड़ा हुआ परिच्छिन्न जीव भाव है, जब बोध हो जाता है तब जीव जीव भाव से उत्क्रमण करके तत्त्व में टिकता है। उस समय तत्त्व ही उसका शरीर होता है, माया लेश वाले स्थूल शरीरादि और क्रिया यदि परब्रह्म को बाधक होती हों तो उसको भी बाधक हों। ज्ञानी के शरीर को यदि अज्ञानी अपने शरीर के समान समझ कर प्राकृत जीव समझे तो इससे ज्ञानी के निश्चय स्वरूप में अन्तर नहीं पड़ता। इस प्रकार ज्ञान स्वरूप बना हुआ जीवन्मुक्त कहलाता है। जगत् में रहते हुए भी वह मुक्त है। जो अधिष्ठान और अध्यस्त के भेद को समझते हैं, वे जान सकते हैं कि अध्यस्त के दोष से अधिष्ठान कभी भी दूषित नहीं होता। इसी प्रकार अज्ञानियों की कल्पना से ज्ञानी कभी भी दूषित नहीं होता इस जगत् में रहता हुआ—जीता हुआ भी जो अपने आद्य भाव में टिका हुआ है, वह जीवन्मुक्त है।

उपाधि युक्त आभास चैतन्य सहित जीव कहलाता है, जीव को अनादि अनन्त जो कहा है, वह इस प्रकार के जीव को नहीं कहा किंतु जीव तत्त्व को कहा है। जीव का जो उपाधि वाला स्वरूप है, वह वास्तविक जीव नहीं है; जीव का वास्तविक तत्त्व शुद्ध आत्मा ही है। शुद्धात्मा को कभी बंधन है नहीं। उपाधियुक्त

जीव में भी बंधन उपाधि से है। विचार से तो उपाधि में भी बंधन सिद्ध नहीं होता। अज्ञान उपाधि और चैतन्य को एक करता है इससे अज्ञान की एकता में बन्धन है। अज्ञान से बंधन है और अज्ञान में बन्धन है। अज्ञान के कारण बंधन आत्मा में प्रतीत होता है। अज्ञान की निवृत्ति और अपने स्वरूप के बोध को मोक्ष स्वरूप कहते हैं। अज्ञान की निवृत्ति मोक्ष है और परमपद की प्राप्ति मोक्ष स्वरूप है। अज्ञान वाले जीव भाव का निवृत्त होना मोक्ष है। अज्ञान भाव रूप है इसलिये अज्ञान भाव की निवृत्ति का नाम मुक्ति है, अज्ञान भाव है और उसकी दृढ़ता स्थूल शरीरादि जगत् है। भाव की निवृत्ति से, भाव से हुआ स्थूल शरीरादि जगत् अवश्य निवृत्त होता है, जिसके भाव की निवृत्ति हो गई है, स्थूल शरीर की निवृत्ति अभी नहीं हुई है, ऐसा शरीरधारी जीवन्मुक्त कहलाता है, इसमें कोई ऐसी शंका करते हैं कि शरीरादि जगत् का उपादान कारण अज्ञान है, जब अज्ञान निवृत्त हो गया तब शरीर भी न रहना चाहिये इसलिये जीवन्मुक्त महात्मा हो नहीं सक्ता, इसका समाधान यह है कि जैसे जली रस्सी कुछ समय तक अपनी आकृति में रहती है इसी प्रकार अज्ञान निवृत्त हुए जीवन्मुक्त का शरीर भी कुछ समय तक दीखता रहता है। जिस प्रकार भुना हुआ चना देखने में चना होते हुए भी उसकी उत्पन्न होने की शक्ति का नाश हो जाता है इसी प्रकार अज्ञान का कार्य रूप शरीर होते हुए भी उस शरीर का अज्ञान जला हुआ होता है, अब वह अज्ञान अंकुर को उत्पन्न नहीं कर सक्ता। जिस अज्ञान के वेग से शरीर उत्पन्न हुआ था,

उस वेग को वह अवश्य समाप्त करेगा। जो शरीर मूलाज्ञान से स्थूलाज्ञान का हो गया है, वह मूलाज्ञान की निवृत्ति करने वाले के अधिकार से बाहर हो चुका है, वह अपने वेग को भले ही समाप्त करे, उसमें जीवन्मुक्त की कुछ हानि नहीं है। जिसका 'मैं' और 'मेरा' भाव अशेष हुआ है, जिसका जगत् में से विष उड़ गया है, जगत् उसका कुछ नहीं कर सक्ता। जो जगत विष रूप था, अब उसके लिये परमानन्द रूप हुआ है, दीखता हुआ जगत् भी अब उसकी दृष्टि में सत्यता रहित है, उसको सबमें अपने स्वरूप ही का भान होता है, जिसकी सब क्रिया परमानन्द स्वरूप है, जो क्रिया, कर्ता और करण को परमानन्द से भिन्न नहीं देखता ऐसा शरीरधारी शरीर आदि के अभिमान से मुक्त ज्ञानी इस अवस्था में जीवन्मुक्त कहलाता है। जीता हुआ मुक्त जीवन्मुक्त है; शरीर से जीता है, जगत् में जीते हुए के समान कार्य करता है परन्तु अवास्तविक ऐसे अज्ञान के निवृत्त होने से जो मुक्त है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जीवन्मुक्त ही परम उपदेशक होता है। अज्ञानी न होकर जो अज्ञानियों को उपदेश देने में समर्थ है, जो शरीर होते हुए भी अशरीर है, वह जीवन्मुक्त है।

किसी जीव को पूर्ण संतोष नहीं होता, इस प्रकार का होना ही अज्ञान है। जब ज्ञान होता है तब संपूर्ण संतोष होता है, जब तक अपूर्ण होता है तब तक संतोष नहीं होता अर्थात् न्यून रहता है। जब आत्मा से पूर्ण होता है तब संतोष भी पूर्ण होता है। जगत् के पदार्थों की प्राप्ति से पूर्ण संतोष नहीं होता क्योंकि वे

एक से एक बढ़कर हैं, सब की प्राप्ति होना सम्भव नहीं है, अज्ञान से व्यक्ति भाव को प्राप्त हुआ व्यक्ति, रूप, पदार्थ स्थान आदिक की इच्छा किया करता है, यद्यपि व्यक्ति भाव को प्राप्त हुआ है तो भी वह स्वयं तत्त्व से परब्रह्म है परब्रह्म रूप पात्र बहुत विशाल है, भला ! तुच्छ पदार्थों से वह पात्र किस प्रकार भरे ? नहीं भर सक्ता ! जितना उसमें डालते जाते हैं उतना विशेष वह खाली दीखता रहता है। आन्तर चैतन्य पात्र अज्ञान से आच्छादित होने से ऐसा होता है, जब ज्ञान होता है तब उसे अपने पात्र की विशालता प्रतीत होती है और यह बोध भी होता है कि जो जो इच्छायें की जाती थीं, वे अज्ञान से थीं, वस्तुतः तो ब्रह्माण्ड भर के सब पदार्थ मुझमें हैं, मुझसे भिन्न नहीं हैं, मुझको सब प्राप्त हैं, सबका प्रकाशक, आधार, अधिष्ठान मैं ही हूँ। ऐसे सम्यक् बोध से जो तृप्त होता है, उसको ही संपूर्ण संतोष होता है, व्यापक का बोध होते ही व्यापक भाव में टिक जाने से व्यक्तिपने की सब इच्छायें निवृत्त हो जाती हैं। जब सब इच्छायें पूर्ण हो जाती हैं तब इच्छा करने वाला भी नहीं रहता। 'सब इच्छाओं के पदार्थ मेरे ही तत्त्व से हैं' ऐसे निश्चय वाला महान चक्रवर्ती राजा के समान होता है यानी ब्रह्मांड भर का शाहंशाह होता है। अज्ञान के नेत्रों से दूसरों को वह चाहे जिस स्थिति में दीखे किंतु स्वयं तो वह पूर्ण और शाहंशाह का भी शाहंशाह है।

एक समय एक राजा किसी एक पर्व पर अपने सैन्य सहित पूर्ण ठाट से देव दर्शन करने को अपनी राजधानी से बाहर गया

था। जब वहाँ से लौट कर आ रहा था तब मार्ग में एक मनुष्य पड़ा था। वह फटे टूटे हाल, अंग से मलिन और भद्दी आकृति का था, जो लोग उसे नहीं जानते थे वे उसे पागल, कंगाल और भिखमंगा समझते थे परन्तु वह पुरुष शाहंशाह को भिखमंगा समझने वाला था। सवारी के मार्ग में सड़क पर बैठा हुआ देख कर आगे चलने वाले सिपाही ने उससे वहां से हट जाने को कहा। तब वह पुरुष बोला "मैं यहां से क्यों उठ जाऊं?" सिपाही बोला "महाराज की सवारी आ रही है, तू मैले कुचैले कपड़े वाला है, बीच मार्ग में बैठा है, यह अच्छा नहीं लगता!" पुरुष बोला "वाह! मेरे कपड़े मैले बताता है! यह तो उमदा दुशाला है! हट! मेरे सामने से! मैं क्यों हटूँ?" सिपाही पागल समझ कर बोला "हट हट! महाराजा की सवारी आ रही है!" पुरुष बोला "वह महाराजा है तो मैं महाराजाओंका भी महाराजा हूं। उसे जाना हो तो पटली पर होकर निकल जाय!" सिपाही जाकर उसको हटाना चाहता था, दूसरे सिपाही ने उसे रोका और कहा "यह साधु है, हम उसे हटा नहीं सके, उसके न हटने की खबर हम अपने ऊपर के अधिकारी को देते हैं!" दोनों ने साधु के न हटने का समाचार अपने ऊपर के अधिकारी को दिया वह क्रोधित होकर साधु को उठाने आया परन्तु साधु के सामने आते ही उसका क्रोध शांत हो गया, इच्छा न होते हुए भी उसने साधु को हाथ जोड़ दिये और उठने को कहा। साधु ने कहा "मैं नहीं उठता! तेरा कहना नहीं मानता, जो तुझे फरियाद करनी हो तो अपने माने हुए राजा के

पास जाकर मेरी फरियाद कर दे !" अधिकारी साधु के इन तेजी के वचनों से डर गया, उसने यह बात दीवान से जाकर कही और दीवान ने राजा से कही। राजा समझदार था, अपनी सवारी सड़क के किनारे २ निकाल ले गया। उसके बाद राजा छोटी सवारी से साधु के पास पहुँचा, साधु ने राजा का कुछ भी आदर नहीं किया। राजा ने हाथ जोड़ नम्रता सहित कहा "महाराज ! मेरी सवारी इस मार्ग से जारही थी, जब आप से उठने को कहा गया तो आप ने कहा था कि मैं महाराजाओं का महाराजा हूँ, यह किस प्रकार हो सकता है ?" साधु ने कहा "सच तो है ! मैं सब महाराजों का महाराजा हूं !" राजा ने कहा "आप मुख से ही ऐसा कहते हो या राज्य की कोई सामग्री भी आपके पास है ? राजाओं के पास तो सैन्य आदि बहुत मनुष्य होते हैं ! आपके पास तो कोई भी नहीं दीखता !" साधु बोला इससे क्या हुआ ? मेरी मौज ऐसी ही है ! मैं सैन्य क्यों रक्खूं ? तेरे बहुत शत्रु हैं, दूसरे राजा तेरा राज्य छीन न लें, उनका तुझको भय है, मेरा कोई शत्रु नहीं, मेरा राज्य इस प्रकार की किले-बंदी से दृढ है कि कोई ले ही नहीं सक्ता ! सामान्य मनुष्य तो क्या ! ब्रह्मा, विष्णु, महेश और स्वयं देवताओं का राजा इन्द्र का सामर्थ्य मेरा राज्य छीन लेने का नहीं है !" राजा सत्संगी था, मुसकराकर बोला "आपके पास धन का भंडार तो अवश्य होगा ?" साधु बोला "मैं धातु, पाषाणोंके टुकड़ों की रक्षा करना अच्छा नहीं समझता ! मुझे खजाने की आवश्यकता नहीं है, ब्रह्मांड भर का खजाना मेरा खजाना है, बोल इतना खजाना तेरे

पास कहां है ?" राजा फिर बोला "आपका राजमहल कहां है ? और रानियां कहां रहती हैं ?" साधु बोला "मेरा राजमहल दिव्य है, वह तुझे न दीखेगा ! वह इतना बड़ा है कि उसकी सुन्दरता और लम्बाई, चौड़ाईका कोई माप ही नहीं निकाल सक्ता ! कहता हूँ, समझ सक्ता हो तो समझः—ब्रह्मांड मेरी राजधानी है और आद्य तत्त्व ही मेरा राजभवन है। करुणा, मुदिता, अदीनता, निर्भयता आदि मेरी धर्मपत्नियां हैं। सब ही राज्य मेरा है; सब राजाओं का मैं राजा हूँ, स्वयं तू भी मुझको कर देने वाला राजा है !" राजा बोला "आपकी वाहन आदि सवारी कहां हैं ?" साधु बोला "तुझको सवारी चाहिये, मुझे उठाने को कोई समर्थ नहीं है, यदि तू पूछे कि हड्डी पिंजर की सवारी कौनसी है तो सुनः—जगत् भर की सब सवारियां मेरी ही हैं; क्या तू मुझे अपनी बग्घी में बैठने नहीं देगा ?" राजा बोला "बैठिये, वह आपकी ही है !" साधु बोला "तब पूछता क्यों है ? मैं तबेले में घोड़े गाड़ी रखने की झंझट नहीं करता। सब सवारियां मेरी ही हैं, जब चाहूं तब मिल जाती हैं, सबकी पाक शाला मेरी ही पाक शाला है, यदि तू विचार सक्ता हो तो विचार कि मैं शाहंशाह हूँ या नहीं ?" राजा बोला "आपने कहा सो सब ठीक है परन्तु हमको जैसा सुख भोग है आपको कहां है ? हमारा सा सुख आपको नहीं दीखता !" साधु बोला "मुझको जैसी शांति है, ऐसी शांति तुझको नहीं दीखती ! तू बाहर के नाशवंत पदार्थों में सुख और भोग मानता है, मैं अविनाशी तत्त्व में सुख और भोग मानता हूँ; तेरा सुख और भोग पराधीन है, मेरा भोग सुख

स्वाधीन है, इसी लिये मैं कहता हूं कि मैं महाराजों का महाराजा हूं !" राजा समझ गया और साधु का परम भक्त हुआ। इस साधु के समान जिसको शांति हो, जिसको सब प्रकार से सब में सुख ही सुख मालूम होता हो, वह जीवन्मुक्त है। ऐसे सुख का भोग ही जीवन्मुक्ति का आनन्द है।

महा वाक्य से उत्पन्न हुए ब्रह्म साक्षात्कार से विद्वत् संन्यासियों को जीवित अवस्था में कर्ता भोक्ता आदि सर्व प्रतीति के निवृत्त होने को जीवन्मुक्ति कहते हैं, ब्रह्म साक्षात्कार युक्त चित्तकी विश्रांति वाला जीवन्मुक्ति का अधिकारी होता है अर्थात् साक्षात्कार के पश्चात् वासनाक्षय और मनोनाश करने से जीवन्मुक्ति होती है। ज्ञानी दो प्रकार के होते हैं:—१ उपासना करके ज्ञान में आये हुए और २ उपासना रहित ब्रह्म साक्षात्कार करने वाले। जिसने उपासना करके ज्ञान प्राप्त किया है, उसको उपासना के समय में ही वासनाक्षय और मनोनाश सिद्ध हुआ है इसलिये ज्ञान के पश्चात् वे उसको करने नहीं पड़ते परन्तु जिसने प्रथम उपासना नहीं की है उसे ज्ञान के बाद वासनाक्षय और मनोनाश करना पड़ता है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय और मनोनाश तीन जीवन्मुक्ति के हेतु हैं। ये तीनों कारण, सूक्ष्म और स्थूल रूप होते हुए भी परस्पर सम्बन्ध वाले हैं। सम्बन्ध इस प्रकार है:— यह दृश्य प्रपंच मिथ्या है, एक अद्वितीय आत्मा पारमार्थिक है, आत्मा सर्व है, आत्मा से अन्य कुछ भी नहीं है, ऐसे तत्त्व ज्ञान से विषयों के अभाव से राग द्वेषादि रूप वासना का क्षय होता

है, यहां तत्त्व ज्ञान कारण है और वासना क्षय कार्य है। वासनाक्षय न होने से तत्त्वज्ञान के भाव में भी विषयों की सत्यता निवृत्त नहीं होती। विषयों की सत्यता की निवृत्ति के निमित्त वासनाक्षय तत्त्वज्ञान का कारण हुआ। इसी प्रकार वासनाक्षय मनोनाश का कारण है। वासना का क्षय न हो तो राग द्वेषादि से मन दूषित रहता है, दूषित मन में तत्त्वज्ञान उत्पन्न नहीं होता। मन के राग द्वेषादि हटने से वासना का नाश होता है, यहां मनोनाश वासनाक्षयका कारण है। ऐसे ये तीनों एक दूसरे के हेतु हैं। एक दूसरे को दृढ़ बनाता है। जब तीनों दृढ़ होजाते हैं तब ही यथार्थ तत्त्वज्ञान होता है। ऐसा तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का हेतु है।

उपासना रहितको जो साक्षात्कार बताया है, वह अदृढ़ होता है इसीलिये उसको पूर्ण करने को वासनाक्षय और मनोनाश की आवश्यकता है। तत्त्वज्ञान आवरण को निवृत्त करता है, वासनाक्षय विक्षेप को निवृत्त करता है और मनोनाश मल दोषको निवृत्त करता है। इस प्रकार जब तीनों की एक साथ सिद्धि होती है तब शरीर रहते हुए जीवन्मुक्त कहलाता है।

एक गृहस्थ के यहां जब पुत्र का जन्म हुआ तब ज्योतिषियों ने कहा कि उन्नीस वर्ष में यह राजा का दामाद होगा, यह बात फैलती हुई राजा के कान तक पहुँची। राजा ने गृहस्थ से पुत्र को मांग लिया। वह उस पर बहुत क्रोधित था इसलिये उसने उसको एक संदूक में बन्द करके रात्रि के समय नदी में बहा दिया। संदूक बहता हुआ शहर के अंतिम घाट पर सुबह होते ही पहुंचा।

इस समय वहां एक पुत्र रहित धनवान स्नान करने को आया था उसने संदूक को खोला तो उसमें उसने एक सुंदर पुत्र को देखा। उसको वह अपने घर ले गया और पुत्र समझ कर बड़ा करने लगा। जब पालित पुत्र अठारह वर्ष का हुआ तब वह श्रीमान् उसको लेकर एक भारी दरबार में गया। राजा उस पुत्र को पहिचान गया और धनवान से पूछने लगा "यह सुंदर युवा किसका पुत्र है" श्रीमान् ने कहा "यह मेरा पालित पुत्र है ?" राजा ने कहा इस युवा को थोड़े दिन के लिये मुझे दे दे ! मुझको एक पत्र रानी को भेजना है।" श्रीमान् ने पुत्र को राजा के आधीन कर दिया। युवा का नाम अमृतलाल था। राजा नें अमृतलाल को एक पत्र देकर कहा "यहां से चौदह कोस पर रानी अपने नैहर गई है वहां जाकर रानी को यह पत्र दे आ, अन्य किसी के हाथ में मत दीजो और तू भी न खोलियो।" अमृतलाल "जैसी आज्ञा" कहकर, पत्र ले चल दिया। वह चलते २ मार्ग भूल गया, सायंकाल हो गया तब उसे एक झोंपड़ी मिली। झोंपड़ी में एक बुढ़िया बैठी थी, अमृतलाल ने उससे कहा "वृद्ध माताजी ! मैं चलते २ थक गया हूँ और मार्ग भूल गया हूँ, आज की रात्रि यदि आप मुझे यहां पड़ा रहने दो तो मैं आपका ऋणी रहूंगा।" अमृतलाल के सुँदर स्वरूप को देख कर बुढ़िया को दया आई। उसने उसे झोंपड़ी के कोने में रहने को कह दिया। उस बुढ़िया के पांच पुत्र थे, वे डकैती का व्यवसाय करते थे। जब वे रात्रि को घर आये तब एक अज्ञान बालक को अपनी झोंपड़ी में सोया हुआ देख कर उन्होंने बुढ़िया से पूछा। बुढ़िया ने सब बात कही।

डाकुओं ने गुप्त पत्र का मर्म जानने के लिये अमृतलाल की जेब में से पत्र निकाला और खोल कर पढ़ा तो उसमें लिखा था "इस पत्र को लेकर आने वाले को पत्र लेकर तुरन्त मरवा कर गाड़ देना" अमृतलाल का सुन्दर स्वरूप देख कर डाकुओं को भी दया आ गई। उन्होंने इस पत्र को फाड़ डाला और दूसरा पत्र "इस पत्र ले आने वाले का पत्र लेकर तुरन्त ही राजकन्या के साथ विवाह कर देना" ऐसा लिखकर जेब में रख दिया। अमृतलाल रात्रि भर नींद में पड़ा रहा, सुबह होते ही उठ कर चल दिया और सायंकाल को रानी के पास पहुँचा और पत्र उसके हाथ में दे दिया। पत्र पढ़ कर रानी ने राजकन्या का विवाह तुरन्त ही अमृतलाल के साथ कर दिया। दूसरे दिन अमृतलाल वहां से लौट कर राजा के पास पहुँचा और शादी होने का हाल कहा। राजा बहुत क्रोधित हुआ। अमृतलाल से सब बात पूछने से उसे निश्चय हो गया कि उसने कुछ किया नहीं है, जो कुछ गड़ बड़ वह अवश्य झोंपड़ी में हुई। राजा बोला "तू कोई विलक्षण पुरुष है, तेरे ऊपर किसी की प्रबल रक्षा है, इसी कारण तू मेरा दामाद हुआ है, परन्तु जब तक सूखे हुए अमृत के सरोवर में से अमृत नहीं ले आवेगा तब तक मैं तुझे अपने दामाद रूप से स्वीकार नहीं करूँगा।"

सूखा हुआ अमृत का सरोवर कहां है उसकी अमृतलाल को खबर न थी तो भी वहां से अमृत लेने को चल पड़ा। बहुत दूर जाने के बाद एक शोभा वाले एकांत स्थान में उसको एक साधु

का दर्शन हुआ। रात्रि हो गई थी इसलिये साधु को नमत करके अमृतलाल ने रात्रि भर वहां रहने की आज्ञा ली। साधु ने कहा हे सुंदर युवा! तू कहां जा रहा है?" अमृतलाल ने अपना सब वृत्तान्त सुनाया और कहा "हे भगवन्! अमृत का सरोवर कहां है, क्या आप जानते हैं? वह सूखा पड़ा हुआ है, किस उपाय से अमृत से पूर्ण हो सकता है और मैं उसें किस प्रकार ला सक्ता हूँ, यह बात आप मुझे बतादें तो मेरा हित हो!" यह साधु सामान्य साधु न था, सिद्ध था, अमृत के सरोवर को जानता था। युवा का वृतान्त सुन कर उसको उस पर दया आगई, करुणा करके बोला "वत्स तूने अमृत ले आने का संकल्प किया है, यद्यपि अमृत लाना कठिन है तो भी मैं तुझको उसकी सब चाभी देता हूँ, सुनः—तू यहां से उत्तर की तरफ सीधा चला जाइयो, अठारह दिन के बाद एक नदी आवेगी, नदी का जल बहुत उछलती हुई तरंगों वाला होगा, ऐसा मालूम होगा कि उसमें जल बहुत है परंतु बहुत न होगा! 'हंस' 'हंस' इस मंत्र का उच्चारण करता हुआ तू नदी में सीधा चला जाइयो। बाद थोड़ी दूर पर चारों तरफ वृक्ष छटाओं से घिरा हुआ एक सरोवर तुझको मिलेगा; उसको तू अमृत का सरोवर समझियो, वह बहुत लम्बा चौड़ा है परंतु उसमें अमृत की एक भी बूँद नहीं है, उस सरोवर के किनारे किनारे चला जाइयो, एक सुँदर घाट तुझको मिलेगा, उस की सब शोभा मारी गई है, यह घाट रत्नों का बना हुआ है परंतु अब वह अच्छे पाषाणों का भी नहीं दीखता। उसके सीधे हाथ पर एक सुंदर वृक्ष मिलेगा, वह सुवर्ण वृक्ष है परंतु इस समय

उसमें एक भी हरा पत्ता नहीं है, सब पेड़ सूखा पड़ा है। घाट के नीचे एक गड्ढा है, उसमें तीन मगर रहते हैं। एक मगर है, दूसरी मगर की मादा है और तीसरा मगर का बच्चा है। उन तीनों में पूर्ण प्रेम है। तीनों में से कोई अकेला नहीं मर सक्ता, जो कोई उनको एक साथ मारेगा तभी मरेंगे। जिस प्रकार उन तीनों का परस्पर सम्बन्ध है इसी प्रकार अमृत के सरोवर, सुवर्ण वृक्ष और रत्नघाट का सम्बन्ध है। जब से वे तीनों मगर उस सरोवर में आ गये हैं तब से सरोवर सूख गया है। मगर से सरोवर सूखा है, मादा से सुवर्ण वृक्ष सूखा है और मगर के बच्चे से घाट विरूप हो गया है। मेरे पास तीन तीर और एक कमान है, उसको तू लेजा 'अहं ब्रह्मास्मि' इस मंत्रसहित तीनों बाणों को एक साथ छोड़ियो, तीनों मगर मर जांयगे, जब मगर और मगर का कुटुम्ब मर जायगा उसी समय सरोवर अमृत से पूर्ण हो जायगा, सुवर्ण वृक्ष हरा और विशाल हो जायगा और रत्न-घाट रत्नों के प्रकाश से चमक उठेगा!" साधु का यह उप-देश ग्रहण कर अमृतलाल आनन्द से सोया, सुबह उठकर साधु से तीर और कमान लेकर दोनों मंत्रों को याद करता हुआ आगे चला, अठारह दिन बाद चंचल नदी मिली। अमृतलाल 'हंस' मंत्र का उच्चारण करता हुआ नदी से निकल गया, सूखा सरोवर आया, उसके घाट पर पहुंचा और 'अहं ब्रह्मास्मि' मंत्र सहित कमान पर तीन बाण चढ़ा कर एक साथ छोड़े, तीनों मगर मर गये! उसी समय सरोवर खलबला कर अमृत से पूर्ण हो गया. सुवर्ण वृक्ष हरा हो गया और घाट रत्नों से चमकने लगा!

अमृतलाल के आनन्द का पार न रहा ! उसने साधु का बहुत ही उपकार माना । बाद उसने सुवर्ण पत्र तोड़कर दोना बनाया, दोने में अमृत भरा, घाट के पास तीन अमूल्य रत्न मिले उनको लेकर वह वहां से चला, चल कर साधु के पास पहुँचा, साधु को नम्रता पूर्वक प्रणाम किया और उसका आभार मान कर वहां से श्वसुर के पास पहुंचा और अमृत दिखाया, अमृत देखते ही राजा बेहोश हो गया, अमृतलाल ने राजा को अमृत का पान कराया, राजा होशमें आया और अमृतलालके साथ कन्याका विवाह कबूल किया और राज दामाद को सौंप कर तपश्चर्या करने को जंगल में चला गया ।

तत्त्व ज्ञान, वासनाक्षय और मनोनाश समझने का यह दृष्टांत है । जिस प्रकार तीनों मगरों का एक दूसरे से सम्बन्ध था, तीनों एक साथ ही मरे थे इसी प्रकार तत्त्व ज्ञान, वासनाक्षय और मनोनाश ये तीनों एक ही साथ होते हैं । इस दृष्टांत को इस प्रकार भी समझ सकते हैं:—अमृतलाल का मूल पिता गृहस्थ कर्म था । अमृतलाल जीव है, जीव कर्म से बना है । उन्नीसवें वर्ष में अमृतलाल का राजकन्या से विवाह हुआ । सत्तरह तत्त्व का लिंग शरीर अठारवीं मूलाविद्या और उन्नीसवां परम तत्त्व है । राजा अहंकार उसकी रानी ब्रह्म जिज्ञासा है, राज पुत्री अचलावती पूर्ण शांति है, अमृत का सरोवर परम तत्त्व ब्रह्म है, परम तत्त्व के ज्ञान रूप अमृत का अमृतलाल ने पान किया, परम शांति रूप राजकन्या उसको प्राप्त हुई । अमृत के सरोवर को सुखा देने वाला अज्ञान

आवरण मगर है। मगर रूप आवरण की भार्या विक्षेप शक्ति वासना है और पुत्र मल रूप मन है। जब अज्ञान, वासना और मनका एक साथ ही नाश किया जाता है तब ही परम शांति प्राप्त होती है। वासना सूखा हुआ सुवर्ण का वृक्ष है जब वह हरा होता है तब आत्मवास होता है। बिगड़ा हुआ घाट मन है, जब वह रत्नरूप होता है तब अमन रूप है, इस प्रकार जीवन्मुक्ति के हेतु रूप ये तीनों अवश्य होने चाहिये। यदि ये तीनों यथार्थ न होंगे तो साक्षात्कार अथवा बोध संपूर्ण फलदाता न होगा। अपरोक्ष ज्ञान दो प्रकारका है:—दृढ़ और अदृढ़। जो ज्ञान केवल शब्द से हुआ हो, जिसमें वासनाक्षय और मनोनाश न हुआ हो वह अदृढ़ है। अदृढ़ ज्ञान के पश्चात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन अथवा तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय और मनोनाश की आवश्यकता है। दृढ़ ज्ञान संपूर्ण ज्ञान है, इसमें वासनाक्षय और मनोनाश प्रथम ही होजाता है इसलिये उनको करने की आवश्यकता नहीं रहती। जिसको दृढ़ ज्ञान है, वह जीवन्मुक्त है।

अज्ञान–माया तमोगुण रूप, वासना रजोगुण रूप और मन सतोगुण रूप है। इस प्रकार जब तीनों गुणों का अभाव होता है तब शुद्ध सतोगुण वर्तता है। शुद्ध सतोगुण में ही जीवन्मुक्ति है। यानी प्रकृति के तीनों गुण वर्तते हुए तीनों गुणों से भिन्न रहना जीवन्मुक्ति है। ऐसा होने से प्रकृति के गुणों का जो विकार है, वह विकार नहीं होता। जब गुणों के साथ मिलता है तब मिलने वाला गुणयुक्त होजाता है। गुण होते हुए गुणों के शरीर और

व्यवहार के ऊपर दृष्टि होते हुए जब द्रष्टा के भाव में रहता है तब जीवन्मुक्ति के आनन्दका अनुभव करता है। बोध होने के पश्चात् और विदेह कैवल्य के मध्य में जीवन्मुक्ति है। बोध की स्थिति के बाद विदेहमुक्ति तक का दर्जा जीवन्मुक्ति है। जीवन्मुक्ति के बाद विदेह कैवल्य के लिये कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता। भोग की समाप्ति के बाद विदेह मुक्ति स्वयं ही होती है या यों कहो कि ज्ञान होने के बाद न्यून प्रारब्ध के भोग की जो अवस्था है, वह जीवन्मुक्ति है। जिसका प्रारब्ध सम और न्यून शेष रहा हुआ होता है, विशेष करके उसको ही जीवन्मुक्ति का अकृत्रिम आनंद होना संभव है। ज्ञान होने के बाद सब ज्ञानियों का प्रारब्ध एकसा नहीं होता इसलिये जीवन्मुक्ति का आनन्द भी सबको एक समान नहीं होता। दूसरी रीति से कहा जाय तो यह कह सकते हैं कि दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान होने के बाद ज्ञान करके जो प्रारब्ध दग्ध हो गया है, जगत् में उसकी प्रतीति की अवस्था जीवन्मुक्तावस्था है। जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त में कुछ अन्तर नहीं हैं. दोनों ही मुक्त हैं। दोनों को ही कुछ कर्तव्य नहीं है। जो जीवन्मुक्त होता है, वह भावसे विदेहमुक्त ही होता है। विदेहमुक्ति में त्रिपुटी रहित आनंद है, जीवन्मुक्ति में दग्ध त्रिपुटी से साक्षी रूप से आनन्द है। जीवन्मुक्ति होते ही ब्रह्मलोक प्राप्त होजाता है, ऐसा समझना चाहिये क्योंकि ब्रह्मलोक तक का अर्चिमार्ग ज्ञान होते ही तै हो जाता है। शरीरांत में वह ब्रह्म को ही प्राप्त होता है, ब्रह्मलोक को प्राप्त नहीं होता।

जीवन्मुक्ति ज्ञान की सप्त भूमिकाओं में है। शुभेच्छा विचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असंसक्ति पदार्थाभाविनी और तुर्यगा ये ज्ञान की सात भूमिकायें हैं, प्रथम की तीन श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप हैं, इनकी अवस्था जाग्रत् है। चौथी सत्वापत्ति भूमिका में ब्रह्म ज्ञान होता है। यह भूमिका ब्रह्म साक्षात्कार रूप है, इस अवस्था में पुरुष ज्ञानी कहा जाता है। ज्ञानी की संज्ञा ब्रह्मवित् है। चौथी भूमिका के ऊपरकी भूमिकाओं में चित्त की विश्रांति के तारतम्य से दृष्ट सुख की विशेपता होती है, वह दृष्ट सुख जीवन्मुक्ति कहलाता है। चौथी, पांचवीं, छठी और सातवीं भूमिका वालों को मोक्ष समान है यानी मोक्ष में विशेषता अथवा न्यूनता नहीं है। शरीर होते हुए सुख की विशेपता जीवन्मुक्तिका आनंद है। पांचवीं भूमिकामें ज्ञानी ब्रह्मविद्वर कहलाता है, छठी में ब्रह्मविद्वरीयान और सातवींमें ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहा जाता है। चौथी भूमिका वाले ज्ञानीको प्रपंच के मिथ्यात्व निश्चय और चैतन्य स्वरूप आत्मा के निश्चय से चित्त की एकाग्रता है तो भी उसे प्रारब्ध भोग के समय व्यवहार बाधितानुवृत्ति से होता है इसलिये उसके चित्त की निरंकुश एकाग्रता नहीं होती। ऊपर की भूमिका वाले जीवन्मुक्तका चित्त अभ्यास से नष्ट हुआ होता है इसलिये उसको बाधानुवृत्ति स्वाभाविक होजाती है। उसके चित्त की एकाग्रता निरंकुश होती है। चित्त की निरंकुश एकाग्रता जितनी विशेष होती है उतना ही विशेष दृष्ट सुख होता है। जीवन्मुक्त के तीन दर्जे हैं:—मंद, मध्यम और उत्तम। ये तीन दर्जे पूर्व के प्रारब्ध भोग की अधिकता और न्यूनता के अनुसार हैं।

जिसको सामान्य भोग की जितनी न्यूनता होती है उतना ही उसका जीवन्मुक्ति का दर्जा श्रेष्ठ होता है, जिसको विचित्र प्रकार का विशेप भोग और व्यवहार होता है उसको चित्तकी एकाग्रताकी न्यूनता से इष्ट सुखकी भी न्यूनता होती है। सामान्य और थोड़ा भोग ही जीवन्मुक्ति के आनंद को देने वाला होता है।

ज्ञान की सात भूमिकायें।

	साधन.			ज्ञान.	जीवन्मुक्ति.		
भूमिका	१	२	३	४	५	६	७
नाम	शुभेच्छा	विचारणा	तनुमानसा	सत्वापत्ति	असंसक्ति	पदार्थाभाविनी	तुर्यगा
अभ्यास	श्रवण	मनन	निदिध्यासन	साक्षात्कार	मंदबुद्ध	बुद्ध	प्रबुद्ध
अवस्था	जाग्रत			स्वप्न	सुषुप्ति	सुषुप्ति	तुर्य
पात्र	मुमुक्षु			ज्ञानी	सिद्ध	सिद्धतर	सिद्धतम
संज्ञा	अधिकारी			ब्रह्मवित्	ब्रह्मविद्वर	ब्रह्मविद्वरीयान	ब्रह्मविद्वरिष्ठ

आरम्भ की जीवन्मुक्ति असंसक्ति रूप है, उसमें ज्ञानी मंद बुद्ध होता है और ब्रह्मविद्वर कहलाता है। मध्यम जीवन्मुक्ति पदार्थाभाविनी रूप है इसमें ज्ञानी बुद्ध होता है और ब्रह्मविद्वरीयान कहलाता है। उत्तम जीवन्मुक्ति तुर्यगा रूप है, इसमें ज्ञानी प्रबुद्ध होता है और ब्रह्मविद्वरिष्ट कहलाता है। इन तीनों में दृष्ट सुख का भेद इस प्रकार समझना चाहिये:—जैसे तीन मनुष्य मुम्बई से कलकत्ते जाने के लिये रेलगाड़ी में सवार हुए, तीनों गाड़ी में बैठे हैं, कलकत्ते जा रहे हैं, इसलिये अवश्य कलकत्ते पहुँचेंगे, एक ही समय पहुंचेंगे परन्तु एक दर्जे में नहीं बैठे हैं। प्रथम खर्च कम होने से तीसरे दर्जे का टिकट लेकर तीसरे दर्जे में बैठा है, दूसरा ड्योढ़े दर्जे में और तीसरा दूसरे अथवा पहिले दर्जे में बैठा है। तीनों को गाड़ी में जो समय निकालना है, उसमें आराम की न्यूनता है। तीसरे दर्जे वाले को बैठने की गाड़ी ठीक नहीं है क्योंकि उसमें बैठने का स्थान कम है और स्टेशन २ पर मनुष्य चढ़ते उतरते हैं इसलिये वह शांति से बैठ नहीं सकता, उतरते चढ़ते मनुष्यों को देखना पड़ता है। कभी ऐसा भी होता है कि उतरने वाला सोये हुए की वस्तुयें लेकर उतर जाता है। कलकत्ते पहुंचने तक का मार्ग कष्ट से तै करना पड़ता है तो भी गाड़ीमें बैठकर जाने वाला पैदल जाने वालेसे अच्छा है ऊपर के दर्जे वालों के समान सुख इसमें नहीं दीखता। इन्टर में भी उतरने चढ़ने का झगड़ा रहता है और रात को सोने का स्थान कभी मिलता है कभी नहीं मिलता। सेकन्ड फर्स्ट क्लास इन सब से उत्तम हैं। बैठने की बैठकें उत्तम होती हैं,

उत्तम मनुष्य ही विशेष कर के इनमें बैठते हैं, गाड़ी सुशोभित, बैठकें चौड़ी, गद्दे वाली और मुलायम होती हैं। ऊपर बिजली का पंखा लगा होता है, पाखाने की कोठरी अलग और स्वच्छ होती है इसलिये उनमें बैठने वाले को विशेष सुख है। इसी प्रकार जीवन्मुक्ति के सुख को समझना चाहिये। जीवन्मुक्ति में मोक्ष का फल प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। जीवन्मुक्त मोक्ष के भाव से निरंकुश रहता है और कितने ही झगड़े होते हुए भी झगड़ों से अलिप्त और सुखी रहता है—सुखका अनुभव करता है।

आरम्भ के जीवन्मुक्त का भाव—लक्षण इस प्रकार होता है:—आरम्भ के जीवन्मुक्त को जगत् बुरा लगता है, जगत् के पदार्थों में उसका मन नहीं लगता। उसको पदार्थों में तिरस्कार होता है। ज्ञान प्राप्ति के निमित्त पूर्व में वैराग्यका जो अभ्यास किया गया था, उस वैराग्य ने अज्ञान की निवृत्ति रूप अपना कार्य कर दिया है तो भी वैराग्य की तेजी का प्रवाह अभी निवृत्त नहीं हुआ है इसलिये प्रापंचिक पदार्थों में वैराग्य—तिरस्कार होता रहता है। कभी २ पदार्थों में तिरस्कार न होकर भाव ही हो जाता है, फिर जब ज्ञान का ख्याल आता है तब अपने राग को हटाता है, कभी तो राग हट जाता है, कभी चिपटा हुआ प्रेम जल्दी से नहीं हटता तब चित्त व्यग्र होता है, अपने को तिरस्कार देता है, विषय का आंतर प्रेम न हटनेसे दुखी होता है परन्तु ऐसा कभी २ ही होता है। विशेष करके तो आत्म बोध के प्रभाव से सुखाभास ही होता है। वैराग्य में भी

उसको सुख मालूम होता है। जब बोध स्वरूप में लक्ष टिका हुआ होता है तब वह अति प्रसन्न होता है। उसकी आत्मभाव की वृत्ति आत्म प्रकाश को वारम्वार छूती है, उस समय वह अपने को कृतार्थ समझता है परन्तु जब वृत्ति बहिर्मुख होती है और विषयों की तरफ ध्यान जाता है तब दुखी होता है, प्रपंचके सब पदार्थों में से उसका राग हट जाता है परन्तु स्थूल राग ही हटता है इसलिये राग निवृत्ति की सम्पूर्ण प्रसन्नता नहीं होती। उसको जो प्रसन्नता होती है, उस प्रसन्नता का विशेष अंश आत्माभास में होता है। उसने अपने शुद्ध स्वरूप को जान लिया है तो भी वह उसमें थोड़े समय तक ही टिक सकता है। वह आभास के विकारों को छोड़ कर मात्र आभास में ही टिकता है। बहुधा उस की प्रवृत्ति की स्थूल क्रिया स्थूल राग सहित नहीं होती परन्तु अभी उसका सूक्ष्म राग का दबाव निवृत्त नहीं हुआ होता, उसको जो ब्रह्मानन्द का भास होता है, वह स्थूलता को लिये हुए होता है। वह जगत् को झूठा समझता है परन्तु व्यवहार में उद्विग्न होता है। जगत् झूठा है, ऐसा उसका वृत्ति प्रवाह अखंडित नहीं रहता, अभी उसकी जगत की दृष्टि गई हुई नहीं होती। प्रथम अज्ञान दशा में जगत् के व्यवहारको सच्चा समझता था अब झूठा समझने लगता है तो भी जगत्की तरफसे वृत्ति टूटती नहीं है। जगत्की वृत्ति को तोड़ने का वारंवार यत्न करना पड़ता है उसको आत्म लक्ष से आनंद और जगत् भाव से दुःख होता रहता है। जगत् की अत्यन्त निवृत्ति की तरफ उसका प्रयत्न होता है और जितनी ब्रह्म में

एकाग्रता होती है उसके प्रमाण से आनन्दित होता है थोड़ा दुःख का भान होने पर भी वह अज्ञानी से विशेष सुखी और प्रसन्न रहता है। चौथे भूमिका वाले ज्ञानी से भी उसके आनन्द की मात्रा अधिक होती है। वह प्रारब्ध कर्म की समाप्ति की राह देखता रहता है शरीर में रहना उसको बोझा रूप मालूम होता है परन्तु ऐसी वृत्ति भी अखंडित नहीं रहती। ब्रह्म सत् है, यह अनुभव उसको होता रहता है। छठी भूमिका वाला जीवन्मुक्त जो ब्रह्मविद्वरीयान कहलाता है, उसका भाव—लक्षण इस प्रकार होता है:—पूर्व भूमिका जो असंसक्ति थी, उसका अभ्यास दृढ़ होने से स्वाभाविकता से उच्च भूमिका में आता है। प्रथम जो जगत् झूठा, दुःख रूप और तिरस्कार युक्त दीखता था अब वह उसे इस प्रकार का नहीं दीखता। अब जगत् को वह स्वप्न अथवा सुषुप्ति के समान देखता है जगत् का दुःख भी स्वप्न के दुःख के समान हो जाता है। कोई मनुष्य निद्रा में स्वप्न देखे और जाग्रत होकर उसे स्वप्न की और स्वप्न के दुःख की जैसी स्मृति होती है; इसी प्रकार ब्रह्म विद्वरीयान को जगत् होता है, स्वप्न देखाव मात्र है, वस्तुतः नहीं है, उसका दुःख भी इसी प्रकार का है, ऐसा ही वह जगत् को मानता है, ऐसा मानने से जगत् और जगत् के कष्ट उसे विशेष कष्ट नहीं देते। सब क्रिया शरीर से लेकर अंतःकरण तक ही होती है, ऐसा जान कर उसके व्यवहार की क्रिया और क्रिया का असर व्यवहारिक शरीर और अंतःकरण में ही रहता है, उसकी क्रिया और दुखादिक का आत्मा के साथ संमेलन नहीं होता। वह ऐसा अनुभव करता है कि

आत्मा में कोई भी क्रिया नहीं होती, क्रियाओं का वोध करते हुए वह साक्षी भाव में टिका हुआ रहता है और जानता है कि मेरे प्रकाश में सब क्रिया होती है तो भी क्रिया मेरी नहीं है मेरी क्रिया न होने से क्रिया और क्रिया के ज्ञान का फल किसी प्रकार भी मुझ को नहीं है। वह किसी समय भूल कर भी राग करके जगत् में प्रवर्त नहीं होता। जगत् की तरफ से स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकारका राग उसका निवृत्त हुआ होता है। पूर्व भूमिका में विशेष करके वह चिदाभास में टिकता था, इस भूमिका में अब वह जिस का चिदाभास हुआ है, ऐसे शुद्ध साक्षी में टिकता है। वह टिकाव भी कभी जाता नहीं है, जब बुद्धि वृत्ति व्यवहार में प्रवर्त होती है तब भी उसे साक्षी का पक्का निश्चय बना रहता है इसलिये उसकी बुद्धि वृत्ति स्थूल में अथवा सूक्ष्म में अधिक रागयुक्त नहीं होती, ऐसे ही वह व्यवहार में अत्यन्त ग्लानि युक्त अथवा वैराग्य युक्त भी नहीं होता। कर्तापने के विशेष अभिमान से रहित सामान्यता से व्यवहार में प्रवर्त होता है अथवा नहीं होता। पूर्व भूमिका में आत्मानन्द की मात्रा जो न्यून थी, इस भूमिका में बढ़ जाती है साक्षी में टिकाव होता है तो भी यह बोध रहता है कि वह अनात्मा का साक्षी है। साक्षी शुद्ध है, ऐसा जानते हुए भी संपूर्ण व्यक्तित्व का अभाव नहीं हुआ है। वह शुद्ध-प्रत्यगात्मा में टिका हुआ होता है, परब्रह्म को लक्ष से जानता है, परब्रह्म के पूर्ण लक्ष में वृत्ति का वारंवार टिकाव भी होता है इसी से अन्य समय में भी विशेष आनन्द से युक्त होता है। साक्षी का भाव दृढ़ होने से दुःख रूप प्रपंच का भान भी न्यून होता है अज्ञान और विक्षेप

रूप प्रतिबन्ध उसको नहीं होता इसीलिये साक्षी भाव विशेष आनन्द युक्त होता है। पूर्व भूमिका में 'परब्रह्म सत्य है' ऐसा अनुभव होता था, अब इस भूमिका में 'परब्रह्म सत्य और चैतन्य है' ऐसा अनुभव दृढ़ होता है इसलिये आनन्द भी अधिक होता है। उसको स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के भाव में आनन्द होता है। उसका सूक्ष्म भाव भी सत्य और चैतन्य से सुदृढ़ होता है, प्रत्यगात्मा का स्पष्ट आनन्द और स्पष्ट बोध होता है, शरीर से व्यवहार होते हुए भी वह अपने को उससे भिन्न समझता है, जो कुछ आनन्द दीखता है वह आत्म तत्त्व का ही प्रकाश है ऐसा जान कर वह पदार्थों के भावाभाव से सुखी दुखी नहीं होता। जैसे तरंग को देखता हुआ भी तरंग का यथार्थ ज्ञाता तरंग समुद्र जल से भिन्न तत्त्व नहीं है, ऐसा जानता है; ऐसे ही वह जगत् रूप तरंग को ब्रह्म तत्त्व से भिन्न नहीं समझता। वह शरीर और कुटुम्बियों को एक बगीचे के अनेक वृक्षों के समान समझता है। अनेक वृक्षों से एक दूसरे का जितना सम्बन्ध है उतना ही अन्य शरीरों से अपने शरीर का सम्बन्ध देखाव मात्र समझता है, अपने आत्मा को बगीचे की भूमि के समान समझता है, अनुकूलता और प्रतिकूलता का सम्बन्ध अपने प्रत्यगात्मा में नहीं मानता। लाभ हानि आदिक को जानता है, यथार्थ व्यवहार के बर्ताव का उसको बोध होता है, समयानुसार प्रवाह प्राप्त अलिप्त व्यवहार करता हुआ भी अपने शरीर को तमाशे का एक पात्र-एक्टर समझता है, इस व्यवहार से अधिक अपने शरीर को नहीं

मानता। ऐसा होने के कारण उसका आत्म बोध कभी दबता नहीं, पूर्ण निश्चय में टिका रहता है, किसी हालत में वह अपने निश्चय से नहीं छूटता। आत्म लक्ष याद—कायम रखने की उसे आवश्यकता नहीं होती, स्वयं ही लक्ष रहता है। अब वह लक्ष स्वाभाविक दृढ़ हो जाता है, ऐसे ही जगत् की अनित्यता की उसे याद रखनी नहीं पड़ती, स्वयं ही रहती है क्योंकि इस प्रकार के टिकाव से जगत् तुच्छ हो जाता है। जैसे सब मनुष्यों को कल्पित नाम जाति आदिक दृढ़ हो जाने से उनकी याद रखनी नहीं पड़ती ऐसे ही ज्ञान के दृढ़ अभ्यास से ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या भी याद किये बिना दृढ़ बना रहता है। उत्थान काल—व्यवहार में साक्षी की तरफ वृत्ति न हो तो भी भूल नहीं जाता। लक्ष और निश्चय दो भिन्न न रहते हुए भी उसका निश्चय ही लक्ष होता है और लक्ष ही निश्चय होता है। बुद्धि वृत्ति बहुत शुद्ध और तीव्र हो जाती है। यथार्थ निर्णय करने की शक्ति बढ़ जाती है। उसका आत्म प्रकाश लुप्त न होने से जगत् में भी क्रम २ से उस का प्रकाश बढ़ता जाता है, वह स्वयं शांति रूप हो जाता है और अन्य को भी श्रवणादि ज्ञानेन्द्रियों और वाकादि कर्मेन्द्रियों से शांति देने वाला होता है। बुद्धि वृत्ति शुद्ध होने से गहन विषयोंको भी शीघ्र ग्रहण कर सक्ती है, विवेचन शक्ति बढ़ जाती है, उसे अपने लिये अथवा अन्य के लिये, ज्ञान के लिये अथवा जीवन्मुक्ति के लिये कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता। उससे जो कुछ होता है, स्वाभाविक होता है। उसकी यावत् क्रिया स्वाभाविक होती है। शरीर, इन्द्रिय और मन से सब क्रिया होती है, क्रिया

में उसका कर्त्ता भाव नहीं होता। वह सर्वथा ममता रहित होता है इसलिये उसका सम भाव खण्डित नहीं होता, आनन्द ही आनन्द रहता है, समाधि और उत्थान दोनों ही आनन्द युक्त होते हैं, समाधि और उत्थान का अन्तर उसमें से निवृत्त हुआ होता है। उसे सब हालत में समाधि ही रहती है। आनन्द को नाश करने वाली कामनायें थीं, वे समूल निवृत्त हो चुकी होती हैं इसलिये उसके स्वरूप में कोई प्रतिबन्ध न रहने से आनन्द की अथाह वर्षा हुआ करती है। उत्थान में वह आनन्द का भोक्ता होता है तो भी मरी हुई—जली हुई त्रिपुटी में आनन्द का भोक्ता होता है। उसका आनन्द सत्य और चैतन्य से विशेष सम्बन्ध वाला है तो भी पूर्ण है क्योंकि कारण आनंद भेद रहित है। उसे कारण आनन्द का भी बोध होने से सत् चित् और आनंद का त्रिपुटी रहित बोध जली हुई त्रिपुटी में होता है, पूर्व भूमिका में त्रिपुटी के बाध-अभाव सहित आनंद होता था और इस भूमिका में त्रिपुटी के बाध-अभाव रहित जली हुई त्रिपुटी में आनंद का स्पष्ट आविर्भाव होता है। उस आनंद का माप किसी प्रकार कर नहीं सक्ते। विशेषता यह है कि आनंद स्वरूपमें टिका हुआ होकर भी आनंद का भोक्ता होता है, मरने जीने की चिंता से रहित होता है। मेरा प्रारब्ध समाप्त हो और विदेह कैवल्य प्राप्त हो, यह इच्छा उसे नहीं होती क्योंकि अब प्रारब्ध उसका नहीं रहा है। वह सब स्थानों में नमस्कार से रहित होता है, शुभ, अशुभ, व्यवहारिक और परमार्थिक सब प्रकार के प्रेम और द्वेष से रहित होता है। दूसरे को प्रेम अथवा द्वेष दीखे तो करने वाले का वह प्रेम

अथवा द्वेप उसमें प्रतिबिम्ब होकर लौटता है, उसका नहीं होता। अब उसे मोक्ष की भी इच्छा नहीं होती जो जैसा हो रहा है, सब ही वाह वाह है। यह अवस्था अत्यंत निर्मल और स्थिर होने से इस अवस्था वाला शास्त्र के संपूर्ण रहस्य को समझ सक्ता है।

उत्तम जीवन्मुक्ति, जो तुर्यगा के नाम से कही जाती है, जिस में ज्ञानी की संज्ञा ब्रह्म विद्वरिष्ठ होती है, संपूर्ण जीवन्मुक्ति है यानी जीवन्मुक्ति के सुख की उसमें पराकाष्टा होती है। उसके अनुभव का वर्णन करना अशक्य है तो भी कुछ लक्ष पहुंचाने के निमित्त, अपनी अवस्था को आप समझने के निमित्त कुछ लक्षण प्रकट करते हैं:—ब्रह्म साक्षात्कार की क्रम से वृद्धि होकर इस अवस्था में संपूर्ण स्थिति होती है। यद्यपि इस अवस्था को अवस्था कहना नहीं बनता क्योंकि यह अवस्था नहीं है किंतु स्वरूप है तो भी जीवन्मुक्ति की श्रेष्ठता से अवस्था कही है। संपूर्ण अज्ञान, अज्ञानकृत आवरण और विक्षेप निवृत्त हुआ होता है इसलिये उसको ब्रह्मानन्द का अनुभव किंचित् भी प्रतिबंध रहित स्पष्ट और दृढ़ होता है। उसको जगत् स्वप्न अथवा सुषुप्ति के समान भी नहीं दीखता। यद्यपि उसका अंतकरण जगत् की तरफ से सुषुप्त के समान होता है। जगत् भिन्न दीखता हुआ भी उसे पर-ब्रह्म ही दीखता है। जगत्की भिन्नता दीखती है तो भी अंतःकरण भिन्नता को सत्य रूप से ग्रहण नहीं करता। ब्रह्मभाव की वृद्धि वृत्ति से समग्र ब्रह्मांड ब्रह्म स्वरूप दीखता है। जब वह व्यवहार में प्रवृत्त होता है तब उसकी सब क्रिया स्वाभाविक होती

है, उसके अहंभाव की जड़ स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों में से कटी हुई होती है। केवल पूर्व अहंकार की चाल से उसकी सब क्रिया स्वाभाविक हो समाप्त हो जाती है मैं व्यवहार करू अथवा न करूं, करना चाहिये अथवा न करना चाहिये, ऐसे सब भावों से वह रहित होता है। उसकी जितनी क्रिया होती है सब दूसरों की प्रेरणा से होती है। शरीर, प्रारब्ध से प्रेरित अथवा अन्य प्राणी से प्रेरित ऐसे अन्य करके प्रेरित होती है, उससे स्वयं नहीं होती क्योंकि किसी प्रकार का कर्तापना अब उसमें नहीं रहा है। जैसे यंत्र अपने पुर्जे के अनुसार विशेष बोध भाव रहित कार्य करता है; इसी प्रकार उसका शरीर, इन्द्रिय अथवा अन्तःकरण सब क्रियाओं को करता रहता है, क्रियाओं में आसक्ति न होने से उनकी विशेष स्मृति भी उसको नहीं रहती। किसी प्रसंगानुसार स्मृति का उत्थान भी हो तो ग्रामोफोन की प्लेट चढ़ जाने के समान होती है। ऐसी स्मृति होने और न होने में समान है क्योंकि उसका कोई संस्कार दृढ़ नहीं होता। इस स्थान पर वैराग्य का भी संपूर्ण वैराग्य होजाता है। राग और वैराग्य की विरुद्धता का भेद उसमें नहीं रहता, दोनों में वह समान भाव वाला होता है। उसका मन अमन भावको प्राप्त हुआ होता है इसलिये स्थूल, सूक्ष्म और कारण सब प्रकारका राग वैराग्य निवृत्त होजाता है। अमनपने से अब रागादिक को टिकने का स्थान नहीं रहता। मन का क्षय दो प्रकार का होता है एक स्वरूप क्षय दूसरा स्वरूप रहते हुए भाव क्षय। इस अवस्था में उसका मन अमन होता है, मन का क्षय हुआ होता है, मन का क्षय स्वरूप रहते हुए भाव से क्षय

होता है इसी कारण उसको अपना और दूसरे का बोध होता है परन्तु तत्त्व में वह भिन्नता को नहीं देखता। उसको जगत्‌का कोई कष्ट नहीं होता क्योंकि उसने जगत् और जगत् के अनुसंधान को बहुत शिथिल कर दिया है, उसका शरीर दूसरों को प्रतीत होता है परन्तु अपने निश्चय में वह शरीर से रहित है, जब वह शरीर और जगत् का भेद देखता है तब तुच्छता से देखता है और वस्तु ब्रह्म ही देखता है। वह कभी भी अपने स्वभाव–साक्षी में से नहीं हटता, अपना स्वरूप ब्रह्म समझता है। शुद्ध साक्षी, जिसका साक्षीपन सब व्यक्तियों में है, वह मैं हूं, ऐसा उसको पूर्व अवस्था में बोध होता था, अब उसको ऐसा भी नहीं होता। अब उसका परब्रह्म ही स्वरूप होता है। जब उसको व्यवहारिक पदार्थों का बोध होता है तब सजीव और निर्जीव इन दो त्रिपुटियों से विलक्षण रूप ही होता है। उसे मरी त्रिपुटी का भी भान नहीं होता। जिस प्रकार सुषुप्ति अवस्थामें त्रिपुटी अत्यन्त सूक्ष्म और अप्रकट होती है इसी प्रकार व्यवहार और आत्मबोध में अति सूक्ष्म त्रिपुटी होती है तो भी वह स्वयं उसके भाव से रहित होता है। निर्विकल्प के समान उसका आंतर अन्तःकरण सदैव रहता है। उसका उत्थान और समाधि दोनों ही विलक्षण होते हैं, वस्तुतः उसका उत्थान तो कभी नहीं होता, शरीर, अवस्था, राग द्वेष, जगत्, शास्त्र और ज्ञानमें वह शुद्ध साक्षी–द्रष्टा ही रहता है, ऐसा होकर भी साक्षी भाव से रहित ब्रह्म स्वरूप में टिका हुआ होता है। इस अवस्था में उसका व्यक्ति अभिमान स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों में से ही नष्ट होजाता है। वह जीवन्मुक्त होकर

विदेह कैवल्य का ही अनुभव करता है। विदेह कैवल्य की इच्छा का भी उसमें अवकाश नहीं है, उसे जो आनन्द होता है वह संपूर्ण आनन्द है। सत् चित् आनन्द जिसमें घन भाव को प्राप्त होजाते हैं, ऐसे परम आनन्द को वह प्राप्त होता है, जली हुई सूक्ष्म त्रिपुटी से, त्रिपुटी के अभाव करके त्रिपुटी रहित आनन्द का अनुभव करता है, वह कभी ब्रह्म स्वरूप में होता है, कभी परमानन्द को लेने वाला होता हैं, उसकी सब चेष्टा विलक्षण है। वह विधि निषेध से रहित है, ब्रह्मलोक के सुख को इस शरीर में ही भोगता है, हेयोपादेय के भाव से रहित होता है। उसको जो आनन्द, मोद, प्रमोद निस्पृहता और स्वतन्त्रता आदिक का बोध होता है, वह अनुभव से जाना जाता है, कथन में नहीं आसक्ता, जिस प्रकार गूंगा गुड़ के स्वाद को जानता है, कह नहीं सक्ता इसी प्रकार वह स्वयं ही इस सुख को जानता है, वैखरी—व्यवहारिक वाणी कह नहीं सक्ती।

एक ग्राम में तीन भाई रहते थे। वे तीनों गरीब थे। पिता की तरफ से एक बड़ा अमरूद का वृक्ष मिला हुआ था, ऋतु आने पर जो फल अमरूद में आते थे, उनको तीनों समान भाग में बांट लेते थे और समय बांध कर तीनों उस वृक्ष की रखवाली किया करते थे। प्रातःकाल के समय 'छोटा भाई' जिसका नाम मन्दशंकर था, रखवाली किया करता था; 'दोपहरी में मंझला भाई बुधसिंह और शाम को सब से बड़ा भाई प्रबुद्धचन्द्र' रखवाली करता था। एक समय सुबह को एक संन्यासी उस वृक्ष के

नीचे आया और वहां बैठे हुए मन्दशंकर को वृक्ष का मालिक समझ कर कहने लगा "बेटा! मैं बहुत भूखा हूँ, जो तू मुझे इन फलों में से कुछ फल देगा तो मैं अपनी क्षुधा को निवृत्त करके तृप्त होऊंगा!" मन्दशंकर को इस वचन से संन्यासी के ऊपर दया आई, उसने जितने फल तोड़ रक्खे थे, उनके तीन भाग किये, अपने भाइयों के दो भाग अलग रख कर अपने भाग की तरफ अंगुली करके कहा "बाबा! इनमें से दे सक्ता हूँ, दो भाग मेरे दो भाइयों के हैं, मेरे भाग में से आप ले लीजिये!" संन्यासी ने कहा "नहीं! तू अपने हाथ मुझे देदे!" मन्द शंकर ने सब से बड़ा एक पका हुआ अमरूद उठा कर संन्यासी को दे दिया। संन्यासी ने वह अमरूद प्रेम से ले लिया, उसको खाकर पास की बावड़ी में से पानी पिया और मन्दशंकर से कहा "बच्चा! मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ, तुझको जो कुछ चाहिये मांग ले!" मन्दशंकर जी में विचारने लगा "यह क्या दे सक्ता है? फिर भी मांगने में मेरा क्या जाता है?" ऐसा विचार कर बोला "आप मांगने को कहते हो, तो मुझे एक सुन्दर स्त्री मिल जाय, यह मैं आप से मांगता हूँ।" संन्यासी ने कहा "तेरी इच्छा पूर्ण होगी!" यह कह कर संन्यासी वहां से चल दिया। दोपहर को वह फिर उस पेड़ के पास आया। उस समय मंझला भाई बुध-सिंह वहां बैठा हुआ था। संन्यासी ने उससे कहा "बेटा! मुझे क्षुधा लगी है, कुछ अमरूद दे तो मैं खाकर तृप्त होऊं!" बुध-सिंह ने एक भाग की तरफ अंगुली करके कहा "महाराज! इस मेरे भाग में से आप चाहे जितने अमरूद ले लीजिये, दूसरा

भाग मेरे बड़े भाई का है, उसमें से मत लेना !" संन्यासी ने कहा "तू अपने हाथ से मुझे दे !" बुधसिंह ने दो अच्छे अमरूद उठा कर संन्यासी को दे दिये। संन्यासी ने अमरूद खा लिये और पानी पी कर कहा "बच्चा ! मैं तृप्त हुआ हूँ, जो तू चाहे मुझ से मांग ले !" बुधसिंह को संन्यासी पर श्रद्धा थी, कहने लगा "बाबा ! मैं सुन्दर स्त्री के साथ बाल बच्चों सहित रहना चाहता हूं !" संन्यासी "ऐसा ही होगा !" कह कर चला गया और शाम के समय फिर उस पेड़ के नीचे आया। इस समय वहां प्रबुद्धचन्द्र रखवाली कर रहा था। संन्यासी ने कहा "बेटा ! मुझे क्षुधा लगी है कुछ अमरूद दे, जिससे मेरी क्षुधा निवृत्त हो !" प्रबुद्धचन्द्र प्रसन्न होकर बोला "ये सब मेरे ही फल हैं, नित्य इतने फल मुझे मिलते हैं, आप ले लीजिये, एक दिन के फल मुझे नहीं मिलेंगे तो मेरी कुछ हानि नहीं है !" संन्यासी ने कहा "नहीं ! तू अपने हाथ से कुछ फल दे, सब मैं खा नहीं सकता !" प्रबुद्धचन्द्र कई उत्तम २ फल देने लगा परन्तु संन्यासी ने तीन फल ही लिये और खाकर जल पी कर बोला "बच्चा ! जो तुझे चाहिये, सो मांग ले !" प्रबुद्धचंद्र संन्यासी को ईश्वर समझता था, हाथ जोड़ कर बोला "महाराज ! मुझे धन सहित सुन्दर स्त्री मिलनी चाहिये !" संन्यासी "ऐसा ही होगा !" कह कर चल दिया।

वरदान पाकर तीनों भाई वरदान के फल को प्राप्त हुए। छोटे भाई मंदशंकर की शादी एक युवा कुमारी से हुई। पति और पत्नी दोनों सुन्दर और युवा थे, दोनों में परस्पर निर्मल

प्रेम था। स्त्री आने से घर का खर्च बढ़ गया इसलिये शादी के दिन बाद ही मंदशंकर को अपने भाइयों के पास स्त्री को छोड़ कर परदेश जाना पड़ा। परदेश में उसका कोई अच्छा धंधा न लगा, एक स्थान से दूसरे स्थान में धंधे के लिये व्याकुल होता हुआ घूमने लगा। उसकी स्त्री कुछ दिनों तक तो अपने ज्येष्ठों के साथ रही, अन्त में पति के विरह से व्याकुल होकर पतिकी खोज में देश परदेश घूमने लगी। पति का पता नहीं मिला, पति होते हुए भी पति का सुख न मिलने से वह व्याकुल थी। वह पति के सौभाग्य में थी परन्तु पति के सुख का अभाव था। पति की मूर्ति नेत्रों के सामने से हटती न थी परन्तु हाय! पतिका वियोग दुःख रूप हो रहा था।

दूसरे भाई बुद्धसिंह की शादी भी एक सुन्दर स्त्री के साथ हुई, स्त्री घर में आई, थोड़े समय में दो पुत्र हुए। घर की स्थिति ज्यों की त्यों ही रही। दो बच्चे और दो दंपति मिल कर चार मनुष्यों का गुजारा कठिनाई से होता था। छोटा भाई परदेश गया परन्तु कमाई कुछ न हुई, ऐसा देखकर वह कहीं जाता न था, दुःख से अपने दिन वहीं व्यतीत करता था। उसकी स्त्री संयोगों का पति पास था परन्तु दरिद्री था इसलिये दरिद्रता के कारण उसे पति का यथार्थ सुख न था। खाने पीने, पहिनने ओढ़ने की तंगी के कारण से व्यग्र चित्त होने से उसे कुछ अच्छा नहीं लगता था। कभी २ पति से मेल होता था परन्तु अनेक प्रकार के त्रास से, सुन्दर पति और युवावस्था का ठीक २ उपयोग नहीं होता था।

सब से बड़े भाई को सुन्दर स्त्री के साथ श्रीमान्‌पना भी प्राप्त था। वे ही पूर्ण सुखी थे। घर में तरुण स्त्री, दास दासी आदि सब प्रकारका सुख था, किसी प्रकार की चिंता न थी। प्रबुद्धचन्द्र की स्त्री सहजादेवी आनन्द समुद्र में मग्न रहती थी। उसके सुख के बीच में आने वाला कोई न था। उसको स्वेच्छानुसार पूर्ण भाग्य से पति प्राप्त था। वह अखंड सुख से रहती थी।

संन्यासीका वरदान तीनों को था, तीनों को उनके भाव और कर्मानुसार वरदान मिले थे, तीनों ही स्त्री सुख वाले हुए परन्तु तीनों में परस्पर भेद था। इसी प्रकार जीवन्मुक्ति की असंसक्ति, पदार्थाभाविनी और तुर्यगा तीनों अवस्थाओंमें सुखका भेद समझना चाहिये। यद्यपि तीनोंका साक्षात्कार रूप विवाह हुआ है परन्तु असंसक्ति वाली बुद्धि साक्षात्कार रूप पति पास न होने से पति को ढूंढ़ रही है, दूसरी पदार्थाभाविनी के पति पास है, सहज कर्म रूपी दारिद्रता से आत्म सुख का अनुभव—आनन्द यथार्थ नहीं ले सक्ती और तीसरी तुर्यगा—सहजा, सब प्रकार के ऐश्वर्य से संपन्न है, आत्मा में अखंडित वास करती है, पूर्ण आनन्द रूप है। इस प्रकार सब जीवन्मुक्तों को ही आनन्द है परन्तु जिसका जितना कर्म सहज होगा उतना आनन्द विशेष होगा। मोक्ष प्राप्ति में तो तीनों एक ही समान हैं।

जीवन्मुक्त पुरुष की अवस्था जीवन्मुक्ति कहलाती है। किसी प्रकार की अपेक्षा रहित अंतिम मुक्ति मोक्ष कहलाती है। मोक्ष स्वरूप प्रत्येक का अपना आद्य स्वरूप है, अमोघ, अपरि-

सीम और अनिवार्य है इसलिये मोक्ष नहीं है किंतु मोक्ष स्वरूप हैं। मोक्ष शब्द भी कथन मात्र ही है क्योंकि मोक्ष बंध की दूसरी बाजू है। मोक्ष स्वरूप की दूसरी बाजू बंध नहीं है। मोक्ष और बंध मायिक—व्यवहारिक दशाके शब्द हैं, मोक्ष स्वरूप ऐसा नहीं है किंतु पारमार्थिक है। मोक्ष का प्रत्यक्ष अनुभव शरीर होते ही होता है इसलिये शरीर होते हुए जो परमपद को प्राप्त हुआ है, वह पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। देहाध्यास वाले को मोक्षस्वरूप का लक्ष नहीं हो सकता। अज्ञानियों को अपने समान जीवन्मुक्त दिखाई देता है, सामान्य दृष्टि से उसमें कोई विशेषता नहीं मालूम होती। सामान्य दृष्टि से जीवन्मुक्त की मुक्तता भले मालूम न हो तो भी प्रयत्न से जान सकते हैं कि उसमें किसी प्रकार की विशेषता अवश्य है। यद्यपि विदेह कैवल्य अंतिम है तो भी जीवन्मुक्त को दोनों तरफ का भान होते हुए जो शांति और परम पद है, वह विदेह को नहीं है। विदेह में शरीर न रहने की अथवा शरीर का भान न होने की विशेषता है परन्तु जीवन्मुक्त को शरीर सहित परम पद है, यह विशेषता है। विदेह कैवल्य शरीर न रहने में शरीर का भान न होने से शरीरधारियों को परदे में है और जीवन्मुक्त प्रत्यक्ष सामने वर्तता है। यद्यपि जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति का अंतिम फल समान है तो भी विदेह कैवल्य जीवन्मुक्त को ही होता है। जीवन्मुक्त हुए विना कोई भी विदेह कैवल्य को प्राप्त नहीं होता। जीवन्मुक्ति चाहे कुछ वर्ष को हो, चाहे मास, दिन, घंटे आध घंटे अथवा पाव घंटे को हो, होनी अवश्य चाहिये तब ही विदेह

कैवल्य होता है। जीवन्मुक्ति में यथार्थ ज्ञान है, विदेह कैवल्य ज्ञान स्वरूप है। जीवन्मुक्ति सब को एक प्रकार की नहीं होती, उसके मुख्य तीन दर्जे ऊपर दिखला चुके हैं, कर्मों की विचित्रता होने से जीवन्मुक्ति एक होने पर भी अनेक प्रकार की दीखती है। शरीर के आरंभक कर्म अनेक और अनेक प्रकार के हैं। जीवन्मुक्ति वाले का शरीर और शरीर के कर्म जगत् की दृष्टि में रहते हैं इसलिये जीवन्मुक्त के आचार की भिन्नता है, निश्चय सब का एक है, अंतिम फल भी सब का एक है परन्तु आचार-व्यवहार और शांति में भेद दीखता है। जो एक निश्चय है, वह तो निश्चय वाले को ही मालूम होता है और भिन्न २ आचार भिन्नता वालों को भी प्रतीत होता है। जीवन्मुक्ति वर्णाश्रम धर्म के अनुसार रहते हुए भी होती है और वर्णाश्रम धर्म के आचार रहित को भी होती है। जीवन्मुक्ति का हेतु तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय और मनोनाश है, वर्णाश्रम धर्म सहितपना अथवा रहितपना नहीं है। जिस शुद्धि के निमित्त वर्णाश्रम धर्म किये जाते हैं, उस शुद्धि के होने के बाद ही ज्ञान की प्राप्ति होती है इसलिये जीवन्मुक्त को उन की आवश्यकता नहीं रहती, अब जो वर्ताव होता है वह केवल प्रारब्धानुकूल होता है। जिसका जिस प्रकार प्रारब्ध होता है उसी के अनुसार आचार होता है। यदि प्रारब्ध वर्णाश्रम के धर्म युक्त होगा तो वह विदेह कैवल्य तक उन धर्मों को ही करता रहेगा और विपरीत होगा तो उसका आचार वर्णाश्रम धर्म से रहित होगा। सामान्य मन की शुद्धि, निर्लेपता, प्रसन्नता, निस्पृहता, निर्भयता

आदिक सतोगुण और शुद्ध सतोगुण के धर्म सब में अवश्य होते हैं। किसी के ये भाव बाहर प्रत्यक्ष होते हैं किसी के नहीं होते परन्तु सूक्ष्मता से ये सब के अन्तःकरण में रहते हैं। अति कर्मकान्डी, अति तपस्वी, अति त्यागी, अति रागी, अति निस्पृही, अति बोलने वाले, विशेष मौन्य रखने वाले, ऐश्वर्य युक्त रहने वाले अथवा पिशाच के समान रहने वाले सब प्रकार के जीवन्मुक्त होसक्ते हैं। ऊपर का किसी प्रकार का आचार जीवन्मुक्ति में बाधक नहीं होता। वह अपनी तरफ से अमुक प्रकार से रहना पसन्द नहीं करता परन्तु प्रारब्ध के भोग के अनुकूल उसकी रहनी करनी स्वाभाविक होती है। यह भी नियम नहीं है कि एक ही प्रकार की रहन सहन बनी रहे और ऐसा भी नियम नहीं है कि अन्त तक एक ही प्रकार का प्रारब्ध बना रहे। जीवन्मुक्त की रहन सहन प्रारब्ध की पुतली के नाच के आधीन है। जिस प्रकार बजने वाले यंत्र में जो भरा हुआ है, प्लेट चालू करने से वह ही आवाज बाहर आती है इसी प्रकार जीवन्मुक्त के जैसे पूर्व के कर्म हों, उनके अनुसार स्थूल शरीर का प्रारब्ध भरा हुआ है वह ही क्रम क्रम से खुलता जाता है। जीवन्मुक्ति वाले को भी भाव से विदेह मुक्त अवश्य रहना पड़ता है। जो भाव से विदेह मुक्त नहीं, वह जीवन्मुक्त नहीं है। विदेह मुक्ति के भाव की न्यूनता, मध्यमता और उत्तमता से ही जीवन्मुक्त की स्थिति का भेद है।

एक जिमींदारका लड़का बचपन से ही अत्यन्त सीधे स्वभाव का और शान्त था। प्रथम तो उसके माता पिता उसको पागल

अथवा मूर्ख समझते थे परन्तु ज्यों २ वह बड़ा होता गया त्यों २ शांत, सुशील और बुद्धि वाला मालूम हुआ। माता पिता ने लौकिक विद्या पढ़ाने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु प्रयत्न के अनुसार वह पढ़ न सका, कुछ भाषा मात्र सीख सका। उसकी बुद्धि पढ़ने में मन्द मालूम होती थी परन्तु जब किसी भक्ति के वाक्य का उच्चारण कराया जाता तो ठीक २ याद रह जाता था। उसके यहां कथा, वार्ता, पूजन, पाठ आदिक हमेशा हुआ करता था। वह पूजन की सब विधि, पूजन के मन्त्र और जो २ कथा होती थी उसको संपूर्ण याद रख लेता था। यज्ञोपवीत संस्कार होने के बाद संध्या, पूजन और हवन आदि में वह दो घंटे नित्य लगाता था और जो कुछ करता, पूर्ण प्रेम से करता था। कहीं साधु संतों को देखता तो उनके पास पहुंच जाता और उनके एक २ शब्द को चित्त लगा कर सुनता था, घर वालों और व्यवहारिक मनुष्यों से उसे प्रेम न था, जब देखो तब एकांत में बैठा रहता था। ऐसा करते हुए वह युवा हुआ। जब माता पिता का देहांत होगया तब घरका और जागीरका सब काम उसके जिम्मे पड़ा, तो भी वह अपने भाव में ही मस्त रहता था, उसका पुराना कारिंदा सब काम किया करता था। उस जिमींदार का स्त्री और पुत्र के ऊपर विशेष प्रेम न था, साधु सन्तों से मेल रखता था। जिन २ साधुओं को वह जानता था उन सबको ही अपना गुरु मानता था और शिष्य भाव वाला होकर प्रत्येक से कुछ न कुछ उपदेश ग्रहण किया करता था। जब वह पचीस वर्ष का हुआ तब उसको आत्म ज्ञान हो गया, बाद उसको जीवन्मुक्ति की अवस्था बढ़ती

गई। वह गृहस्थी में बना रहा। लोग उसे महात्मा समझते थे और आशीर्वाद लेने उसके पास आया करते थे। वह सबके ऊपर शुभ भावना वाला था और सबका शुभ चाहता था। प्रख्याति बढ़ती गई और लोग अपने मुख्य २ कर्मों के लिये देवता के समान उस जागीरदार की मानता करने लगे। कोई बताशे बांटता कोई सवा सेर, पांच सेर अथवा दश सेर पेड़ों की मानता करता था और कोई जागीरदार के निमित्त ब्रह्म भोजन कराता था इसी प्रकार जागीरदार भी सब पर दयालु बना रहता था। जागीरदार का कारिन्दा ईमानदार था, सब काम यथार्थ रीति से किया करता था। एक समय कई आसामियों पर जमीन की भेज चढ़ गई। वे देते नहीं थे इसलिये कारिंदे ने सरकार में नालिश कर दी। आसामियों को निश्चय था कि सरकार डिगरी कर देगी इसलिये वे दश मनुष्य सवा सेर पेड़े लेकर जागीरदार के पास पहुँचे और "हमारी मानता का है" ऐसा कह कर भेट धर दी। जागीरदार-महात्मा ने कहा "तुम्हारी किस प्रकार की मानता है?" एक मनुष्य ने सब की तरफ से कहा "हम आपके आसामी हैं दो तीन साल वर्षा अच्छी न होने से आपकी भेज हम पर चढ़ गई है, हम दे नहीं सकते, आपके कारिन्दे ने हमारे ऊपर नालिश कर दी है, हम उसमें जीत जांय, इस भाव से यह भेट धरी गई है!" जागीरदार ने कहा "अच्छा! जाओ तुम लोग जीत जाओगे!" आसामी प्रसन्न होते हुए अपने घर चले गये। दूसरे दिन मुकदमा था। दैवयोग से कुछ ऐसा ही बनाव बन गया कि मुकदमा सीधा होते हुए भी कारिन्दा हार गया और

आसामी जीत गये। कारिन्दे को मालूम पड़ गया कि वे लोग जागीरदार के पास पहुंचे थे और जागीरदार ने ही उन लोगों को जीत जाने का आशीर्वाद दिया था। कारिन्दा जागीरदार के पास गया और कुछ क्रोधित सा होता हुआ बोला "हम अब आपका काम किस प्रकार कर सकते हैं ? आसामियां रुपया नहीं देती थीं, अन्त में लाचार होकर बड़े परिश्रम से नालिश की थी, आपने उन लोगों को जीत जाने का वरदान दे दिया ! वे जीत गये ! हम आपका काम ठीक २ करने का प्रयत्न करें और आप उसे तोड़ डालें ! ऐसे कैसे काम चलेगा ?" जागीरदार बोला "तू क्यों घबराता है ? मेरा काम तो ठीक हो ही रहा है ! तू ठीक क्या करेगा ? तुझे 'मेरे तेरे' का दृढ़ भाव है, मुझे ऐसा नहीं है, तू जिस जिसको अपना कहता है, मैं उसे अपना नहीं समझता, सब पृथिवी ही मेरा कुटुम्ब है, मैं सबका ही हित चाहता हूँ मैंने आशीर्वाद दिया, उसमें कौनसी भूल की ? तू मुझे जिमींदार समझता है और मेरी भेज मानता है मैं अपने को जिमींदार नहीं समझता, न अपनी भेज मानता हूं। मैं सर्वत्र प्रेम वाला हूँ, एक सन्त के भाव से मैंने आशीर्वाद दिया था, मैं जो कुछ करता हूँ, अपनी इच्छा से नहीं करता, दूसरे की इच्छा ही प्रवृत्त होकर कार्य कराती है। सोच मत कर, अपनी शुद्ध बुद्धिसे कार्य किये जा, जिसका जैसा प्रारब्ध होता है, वैसा वरदान मुझसे ले जाता है, उसमें तुझे क्या ?" जिमींदारकी सम दृष्टि देख कर और सुन कर कारिन्दा स्तब्ध हो गया, उसका क्रोध चला

गया! क्रोध ही चला गया हो इतना ही नहीं उसको एक प्रकार की शान्ति भी प्राप्त हुई।

ऊपर का दृष्टांत जीवन्मुक्त के आंतर भाव को समझने में मदद रूप है। वरदान देने में जिमींदार का यह भाव नहीं था कि मैं अपने विरुद्ध जीत जाने का वरदान देकर प्रशंसा को प्राप्त होऊं। जीवन्मुक्त का अन्तःकरण मक्खन के समान कोमल हो जाता है। उसके अन्तःकरण में से 'मेरा; तेरा' राग द्वेष युक्त विकारी भाव बहुत प्रकार से नष्ट हो जाता है, वह ऐसा नहीं मानता कि मैं आशीर्वाद देता हूँ किन्तु ऐसा मानता है कि दूसरे का प्रारब्ध मुझ से आशीर्वाद दिलवाता है। जीवन्मुक्त की वाणी अति शुद्धता में निकलती है; कोई भी प्रश्न उसके सन्मुख होते ही उसका उत्तर हृदयमें स्फुरित हो आता है। वह परा वाणी के शब्दों को यथार्थ जान लेता है, यदि योग्य न समझे तो बाहर नहीं निकालता और कोई २ शब्द तो स्वाभाविक ही वैखरी वाणी में आकर बाहर निकल पड़ते हैं। उसको भाव नहीं होता कि मैं इन शब्दों को बोलता हूँ।

जीवन्मुक्त को स्थितप्रज्ञ अथवा समबुद्धि भी कहते हैं। उसके जितने लक्षण दिखलाये जाते हैं वे सब सूक्ष्म यानी मानसिक लक्षण दूसरे की दृष्टि का विषय नहीं हैं। कई मानसिक लक्षणों की जब स्थूल में छाया पड़ती है तब उस छाया से मानसिक का अनुमान किया जाता है। बंध अज्ञान है, अज्ञान देखने का विषय नहीं है। चित्त का प्रपंच की तरफ घूमते रहना,

अपना-आत्मा का बोध-ज्ञान न होना अज्ञान है। इसलिये अज्ञान मानसिक है। मन में से अज्ञान का भाव निवृत्त होना और स्वरूप का बोध होना, यह ज्ञान है। जिसको ऐसा ज्ञान हो, वह ज्ञानी है और शरीर रहते हुए भी आत्म बोध में स्थित जीवन्मुक्त है। अज्ञान सूक्ष्म है इसलिये अज्ञानकी निवृत्ति स्थूलमें से देखी नहीं जाती। यद्यपि स्थूल शरीर आदिक संपूर्ण जगत् भी अज्ञान का कार्य कहा जाता है किंतु वह अज्ञान नहीं है क्योंकि उसके होते हुए भी जो अज्ञान है वह निवृत्त हो सक्ता है। जिस का अज्ञान निवृत्त हो जाता है, उसको शरीर और जगत् बंधन रूप नहीं होता। शास्त्र में अज्ञान को दो प्रकार का कहा है:—मूलाविद्या और तूलाविद्या। मूलाविद्या सूक्ष्म है, तूलाविद्या स्थूल है, मूलाविद्या कारण है, तूलाविद्या कार्य है। अज्ञानी को ये दोनों ही दुःख देने वाली हैं। जीवन्मुक्त की मूलाविद्या का नाश हो जाता है। तूलाविद्या कुछ समय तक रहती हुई भी जीवन्मुक्त को दुःख और बंधन रूप नहीं होती। जीवन्मुक्त के निश्चय में तूलाविद्या नहीं है, केवल दिखावे मात्रकी है। अज्ञानीके लिये वे दोनों ही पूर्ण प्रबल हैं। मूलाविद्या वृक्ष की मूल रूप है, तूलाविद्या संपूर्ण ऊपर का वृक्ष है, संसार रूप वृक्ष की जड़ जिसकी कट गई है, ऐसे जीवन्मुक्त का थोड़े समय के लिये वृक्ष खड़ा दीखे, हरा दीखे तो भी वह वास्तविक में नहीं है। जिसको यह खबर नहीं है कि इस विशाल वृक्ष की जड़ कट गई है, वह कटी हुई जड़ वाले वृक्ष को भी सजीव समझता है, ऐसा समझना अज्ञानियों

का जीवन्मुक्त के विषय में होता है। जब किसी प्रकार जमीन के भीतर जड़ कट जाती है अथवा सड़ जाती है तो मालूम नहीं पड़ती; इसी प्रकार जीवन्मुक्त की संसार की जड़ कट गई है, यह अज्ञानियों को मालूम न हो, ऐसा हो सक्ता है।

जीवन्मुक्त पुरुष के द्वन्द्व निवृत्त हुए होते हैं। एक ही प्रकार के उलटे सुलटे भाव वाले, जो पदार्थ हैं वे द्वन्द्व कहलाते हैं। जैसे सुख दुःख, लाभ अलाभ, भय अभय, जय पराजय इत्यादि। इन सब दो दो भावों से दुनियां है। इन दो दो भावों को ही द्विविधा कहते हैं। जिसकी द्विविधा-द्वन्द्व निवृत्त हो गया है उसके लिये जगत् अनेक प्रकार का होते हुए भी एक प्रकार का हो जाता है। दो की बनी हुई दुनियां में से जब दोपना निवृत्त हो जाता है तब परब्रह्म ही शेष रहता है। जितने विकार हैं, उन सबका अभाव हो जाता है। पदार्थों में नाम रूप की सत्यता जो दृढ़ हो गई है, फिर नहीं रहती इसलिये जीवन्मुक्त पुरुष सब को समभाव से देखता है। व्यवहार में उत्तम और अधम का बोध रहते हुए ज्ञानी की दृष्टि-भावमें समानता है। प्रत्येक मनुष्य जिसको देखता है, अपनी बुद्धि से देखता है यानी पांचों इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण त्याग अपनी बुद्धि के अनुसार करता है। अज्ञान दशा में अनेक प्रकार के विचित्र भावों से रंगी हुई बुद्धि पुरुष का वेष धारण करके जगत् में नृत्य करती रहती है। जब बुद्धि की विषमता-द्वंद्व प्रपंचाकार वृत्ति आत्म बोध से निवृत्त होजाती है तब ही बुद्धि सम होती है। सम बुद्धि से जो देखा

जाता है, वह समता युक्त ग्रहण किया जाता है। जीवन्मुक्त की बुद्धि की जो समानता है वह सूक्ष्म में है, आत्म भाव से है, व्यवहार में नहीं है क्योंकि वह ज्ञानी है, पागल अज्ञानी नहीं है। व्यवहार में उसकी बुद्धि व्यवहार के अनुकूल वर्तती है परन्तु आत्म भावसे विचलित नहीं होती। जैसे नट खेलमें अनेक प्रकार की क्रिया करता हुआ, वेष धारण करता हुआ सुखी दुःखी दीखता हुआ अपने निश्चय में विकार वाला नहीं होता; इसी प्रकार सब कार्य करते हुए जीवन्मुक्त की बुद्धि विकारी नहीं होती। नट का तमाशा कमाने का होता है, जीवन्मुक्त को प्रारब्ध वेग पूर्ण करना होता है।

जब उदयपुर में महाराणा राजसिंह राज करता था तब एक दिन नटों के मुखिया ने राज सभामें आकर अपना तमाशा देखने की विनती की। राजसिंह ने दूसरे दिन राज भवन के आंगन में तमाशा करने की आज्ञा दी। नटोंने दोनों तरफ बल्लियों की घोड़ी बांध कर उनके ऊपर रस्से बांधे और उनके ऊपर अनेक प्रकार के, चित्तको आकर्षण करने वाले तमाशे किये। दोनों तरफ हाथों में भरी हुई बन्दूकें लेकर रस्से पर से एक दूसरे को न छूते हुए बन्दूक की आवाज करते हुए निकल जाने का तमाशा हो रहा था। रस्सा पुराना हो रहा था, उसकी एक वट बीच में से टूट गई। रस्सा जमीन से सौ हाथ ऊँचाई पर था। नट और प्रेक्षक सब घबरा गये। राणा राजसिंह आदि सब राज भवन के झरोखे में से तमाशा देख रहे थे। नटों का नायक उसी समय

चिल्ला कर कहने लगा "क्या ऐसा कोई सती दातार है, जिसके नाम का उच्चारण करने से इस विघ्न की निवृत्ति होजाय ? किस का ऐसा पुण्य है, जो हमारी जानों को बचा दे ?" राणा को यह आशा थी कि अभी मेरे नाम का उच्चारण किया जायगा परन्तु ऐसा न हुआ ! एक नट मरण के भय से बोल उठा "जो पारकर के पृथिवीपति चन्दन सोढा का सत्य शुद्ध हो तो हमारी रक्षा करे !" बाद खेल चालू ही रहा और निर्विघ्न समाप्त हुआ। राणा ने नटों को योग्य इनाम देकर विदा किया, परन्तु उसके दिल में भारी खटका लगा रहा। दूसरे दिन राणा ने दरबार भर कर अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया:—"चन्दन सोढा खारी जमीन का मालिक है, उसका राज छोटा सा है, जब देखो तब दुष्काल से घिरा रहता है, उसके सत्यकी महत्वता गाई गई, मेरा सत्य भुला दिया गया। मैं बारोट को भेज कर चन्दन सोढा के सत्य की परीक्षा कराऊँगा !" सभा भी सहमत हुई। राणा ने एक बारोट से कहा "तू चन्दन सोढा के यहां जा और उसके सत्य की परीक्षा ले !" बारोट खर्च के दाम लेकर चन्दन सोढा के यहां गया। वहां उसका बहुत सत्कार हुआ, उतरने को स्थान दिया गया और खाने पीने का योग्य प्रबन्ध किया गया। चौथे दिन चन्दन सोढा ने बारोटको दरबार में बुलाकर पूछा "आपका आना यहां किस हेतु हुआ है ?" बारोट बोला "अन्न दाता ! मैं आपके पास मन चाहा हुआ दान लेने को आया हूँ !" चन्दन सोढा बोला "रावजी जो तुम्हारी इच्छा में आवे सो मांग लो !" बारोट विचार में पड़ा "क्या मांगना चाहिये, जो सोढा दे न सके,

और महाराणा राजसिंह की महत्वता बनी रहे, सोढा की रानी भटियानीजी बहुत सुन्दर है, युवा है और सोढा को अति प्रिय है, दरबार में से उठकर तीन २ बार उसका मुख देखने को जाया करता है, उसे ही मांगना चाहिये, उसको वह न देगा!" ऐसा विचार बारोट बोला "महाराज! मेरी मांगी हुई वस्तु देने का आप वचन दीजिये!" चन्दन सोढा ने जोश के साथ बारोट के हाथ पर हाथ धर कर कहा "लो! यह राजपूत वचन है!" बारोट बोला "हे पारकर के धनी! जो आपको देना ही हो तो मुझे अपनी रानी भटियानीजी दे दो, इसके सिवाय दूसरी वस्तु मैं ग्रहण नहीं करूँगा!" सोढा आश्चर्य में पड़ते हुए बोला "जा! दी" और रानी को कहला भेजा कि मैं ने तुझे दान में दे दिया है, तैयार हो दरबार में आजा। रानी पति के वचन को प्रभु का वचन मानती थी, स्नान करके, वस्त्र पहिन कर दरबार में परदे के पीछे आ खड़ी हुई। सोढा ने परदा तोड़, रानी का हाथ पकड़ दरबार में लाकर बारोट के हाथ में रानी का हाथ देते हुए कहा "लो! अपनी मांगी हुई वस्तु भटियानीजी!"

बारोट ऊपर की सब चेष्टा देख कर घबरा गया! उसकी धारणा से सब विरुद्ध हुआ! "मेरी क्या कमबख्ती लगी थी कि मैंने इस प्रकार की बखशीश मांगी, अब इस बात को फिरा देना चाहिये! ऐसा विचार हाथ जोड़ कर बोला "महाराज मैं तो आपकी परीक्षा लेता था, आप में कितना सत्य है, यह देखता था, रानी तो मेरी मातुश्री है!" राजा गंभीरता से बोला "जो

वस्तु मैंने एक वार दान दे दी, उसको मैं फिर नहीं ले सक्ता ! तुमको रानी को स्वीकार करना होगा !" रानी बोली "हे बारोट राज ! मैं अपने स्वामी की आज्ञा से आई हूँ, मुझे किसी प्रकार का दोष नहीं है। मुझको मांग लेने के बाद विचित्र प्रकार के कसम खाकर मेरी जिंदगी को मत बिगाड़ो !" बारोट यह कुछ भी न सुनकर अश्वारूढ़ होकर वहां से चल दिया। राजपूतानी को क्रोध आया और उसी समय चिता सुलगा कर जल मरी।

जिस प्रकार चन्दन सोढा का निश्चय पक्का था इसी प्रकार जीवन्मुक्त का होता है। चन्दन सोढा दान देने में प्रसिद्ध था। दान देने के अनेक पदार्थ हैं, स्त्री देने का पदार्थ नहीं है। भटियानीजी सोढा को अत्यन्त प्यारी थी, ऐसे ही सोढा को रानी पूर्ण भाव से चाहती थी। जिस प्रकार राजा का सत्य वचन और अत्यन्त प्यारी रानी को एक वचन में दे देने का भाव अपूर्व है उसी प्रकार पतिकी अप्रिय आज्ञाको भी प्रियपन से ग्रहण करना भटियानीजी का अपूर्व भाव है। जीवन्मुक्त सबमें मिला हुआ दीखता है तो भी उसकी किसी में किंचित् भी आसक्ति नहीं होती क्षण भर में सबको हटा देता है और आप अपने निश्चय में टिका रहता है। जीवन्मुक्त का निश्चय ही जीवन्मुक्ति है। यदि निश्चय नहीं तो कुछ नहीं ! आत्म निश्चय में पूर्णता से टिके रहकर बाहर कैसा भी आचरण हो, आचरण के साथ सम्बन्ध न होने से जीवन्मुक्त को किसी प्रकार का दोष नहीं होता। उसके शरीर से यदि किसी की महा हत्या भी हो जाय तो ज्ञानी हत्या का भागी

नहीं होता। प्रथम तो ऐसा होना ही संभव नहीं है कि ज्ञानी किसी की हत्या करे फिर भी यदि हो जाय तो दूसरे के प्रारब्ध का भोग है, उसका कार्य नहीं है, दूसरे का भोग उसके द्वारा सिद्ध हुआ है, ऐसा समझना चाहिये। ज्ञानी में कर्तापने का अभिमान न होने से उसका शुभ अथवा अशुभ कर्म के फलों से सम्बन्ध नहीं है, उसका सब कर्म जला हुआ है, केवल दूसरे के देखने में है, जला हुआ प्रारब्ध कैसा होता है, यह नीचे के दृष्टान्त से स्पष्ट हो जायगा।

पांडव कौरवों का जो महाभारत युद्ध हुआ था, उसमें द्रोणाचार्य के मरने के बाद अश्वत्थामा आदि योधाओं के साथ पांडवों का युद्ध हुआ था। अर्जुन के रथ को चलाने वाले-सारथी श्री कृष्ण थे। जब वे रथ को लेकर चले तो उन्होंने सत्य संकल्प किया कि आज के युद्ध की समाप्ति पर्यन्त ये रथ और घोड़े सब जैसे हैं वैसे ही रहें यानी रथ हटने, गिरने अथवा जलने न पावे और घोड़े मरने न पावें। सत्य संकल्प मिथ्या नहीं जाता। प्रसंग ऐसा ही बना कि अश्वत्थामा ने अर्जुन के रथ पर ब्रह्मास्त्र यानी अग्नि वर्षाया, उस करके रथ और घोड़े सब जल गये किन्तु जले हुए भी सत्य संकल्प के प्रभाव से युद्ध की समाप्ति पर्यन्त न जले हुए के समान रहे। जब भगवान् ने अर्जुन को रथ पर से उतार कर संकल्प के प्रभावको खींच लिया तब रथ और घोड़ों का ढेर हो गया! इसी प्रकार प्रारब्ध रूप सत्य संकल्प है। ज्ञानाग्नि करके ज्ञानी का शरीर और सब व्यवहार जला हुआ है तो भी प्रारब्धकी निवृत्ति पर्यन्त देखने में आता है। वस्तुतः वह

अज्ञानी के समान नहीं है। शरीर रूपी रथ को इस प्रकार समझोः—स्थूल शरीर रथ है, पुण्य पाप दो पहिये हैं, त्रिगुण रूप ध्वजा है, पंच प्राण वन्धन हैं, इन्द्रियां घोड़े हैं, पांच विषय मार्ग हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी है, संकल्प प्रारव्ध है, अहंकार बैठने का स्थान है, रथी आत्मा है, वैराग्यादि साधन शस्त्र हैं और मनुष्य जन्म रण भूमि है।

एक गरीब वृद्ध किसान की एक स्वरूपवती कन्या थी, उसका नाम प्रज्ञादेवी था। जैसी वह रूपवती थी इसी प्रकार बुद्धिशाली भी थी, जो कोई उसके साथ थोड़ी भी वात चीत करता तो मालूम पड़ता था कि वह बहुत ही बुद्धिशाली है। पिता जो कुछ कमाई करता था उसी में कोर कसर करके वह अपना निर्वाह करती थी। एक दिन प्रज्ञादेवी ने कहा "पिताजी! राजा चतुर और धर्मात्मा है, गरीब आदमियों की वात सुनता है और सहायता भी देता है, आप उसके पास जाइये और सहायता देने की विनती कीजिये!" किस प्रकार बोलना आदि सब सिखा कर उसने उसे राजा के पास भेजा। लड़की के कहे अनुसार वृद्ध किसान ने राजा के पास जाकर विनती की। चतुर राजा समझ गया कि वृद्ध जो शब्द बोलता है, वे उसे किसी ने सिखाये हैं, कहने लगा "हे वृद्ध! इस प्रकार बोलना तुझे किसने सिखाया है?" वृद्ध बोला "महाराज! मेरी पुत्री ने!" राजा आश्चर्य युक्त होकर बोला "वह किस उमर की है? क्या कुछ पढ़ी है?" वृद्ध बोला "महाराज! वह किसी से पढ़ी नहीं है! शादी करने के योग्य हो गई है, मैं गरीव हूँ, अभी तक शादी नहीं कर सका हूँ!"

राजा ने दो चार बातें पूछ कर प्रज्ञादेवी की परीक्षा ली, वह पूर्ण प्रज्ञा ही थी! अंतमें राजाने उसे देखा तो वह योग्य उमरकी और रूप का भंडार थी। राजा ने उस पुत्री का अपने साथ विवाह करने को वृद्ध से कहा। वृद्ध को बड़ा आश्चर्य हुआ, अन्त में प्रज्ञादेवी का राजा के साथ विवाह होने का निश्चय हुआ। प्रज्ञादेवी ने विवाह होने के प्रथम राजा से कहा "मैं आप के साथ शादी करने को तैयार हूँ, परन्तु मैं ने सुन रक्खा है कि राजा लोग जैसे तुरन्त ही प्रसन्न हो जाते हैं, ऐसे ही तुरन्त ही अप्रसन्न भी हो जाते हैं इसलिये आप मुझे वचन दीजिये कि जब आप मुझ पर क्रोधित होंगे तब मैं आप के राजमहल में न रहूंगी! मेरे लिये एक स्वतंत्र महल- शहर के बाहर प्रथम से ही बना देना चाहिये। जिस समय मैं आप के राजमहल से निकल कर शहर के बाहर के महल में जाऊंगी तब मैं अपना गुप्त धन अपने साथ ले जाऊंगी! उस समय आप मुझे रोक नहीं सक्ते!" राजा ने यह बात स्वीकार करली और दोनों का विवाह हो गया।

विवाह के बाद कितनेक वर्ष परस्पर प्रेमानन्द में व्यतीत हुए। एक दिन एक तुच्छ कार्य के लिये राजा ने प्रज्ञारानी को तिरस्कार कर क्रोध युक्त हो दो चार भली बुरी बातें सुना दीं। रानी उस समय कुछ न बोली, जब शाम के समय राजा को शांत देखा तब कहने लगी "महाराज! आप मुझ पर क्रोधित हुए हैं, आपने मेरा तिरस्कार किया है, इसलिये अब मैं इस राजमहल में रहना ठीक नहीं समझती! विवाह के पूर्व मैंने आप से जो वचन लिये थे, उन के अनुसार मुझे शहर के

बाहर के महल में रहने की आज्ञा दीजिये !" राजा बोला "मैं अपने कहे हुए वचनों का पालन करने वाला हूँ, यदि तू राजमहल में रहना नहीं चाहती तो मैं भी बलात्कार से तुझे यहां रखना नहीं चाहता, तू राजमहल में से कौनसी वस्तु अपने साथ ले जाना चाहती है ?" रानी ने नम्रता पूर्वक कहा "महाराज ! मैं जिसे अपने प्राणों से भी अधिक चाहती हूँ, उसे मैं अपने साथ ले जाऊंगी ! मैं आपके महल में से एक ही वस्तु ले जाऊंगी, आप निश्चिन्त रहिये !" राजा कुछ न बोला ! रानी ने पीने के जल में नशा करने वाला एक गुप्त द्रव्य मिला कर राजा को पिला दिया। जब राजा रात्रि को गाढ़ निद्रा में पलंग पर सो रहा था तब रानी पलंग सहित राजा को उठवा कर अपने साथ अपने महल में ले गई। दूसरे दिन सुबह को जब राजा जाग्रत हुआ, तब इधर उधर देखने लगा। उस को निश्चय हो गया कि वह अपने राजमहलमें नहीं है। 'मैं कहां हूँ, मुझे यहां कौन लाया' इत्यादि आश्चर्य से विचार रहा था, वहां कोई मनुष्य नहीं दीखता था, चिल्ला कर बोल उठा "अरे ! मैं यहां कैसे आया ? मुझे यहां कौन लाया ? यह कौन स्थान है ?" तुरन्त रानी दौड़ कर पास आ कहने लगी "विचारो ! आप कहां हो ? मैंने आप की आज्ञानुसार आप के महालय का त्याग किया है ! अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार मेरे गुप्त धन जो आप हो, हे प्राणेश्वर ! उसे मैं अपने साथ ले आई हूँ ! आप ही मेरे प्राण से अधिक प्रिय हो ! हृदयेश्वर ! पत्नी को पति से अधिक प्रिय अन्य कौन हो सक्ता है ? आप मेरे गुप्त धन हो ! आप मेरे इस अपराध को क्षमा कीजिये !" रानी के युक्ति युक्त

मधुर वचनों से राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और प्रेम से आलिंगन करके बोला "हे प्रिये! मैं इतने दिन तक तेरे साथ रहा परन्तु तुझे पूर्ण रीति से पहिचान न सका! तूने मेरा कुछ भी अपराध नहीं किया है, मैं ने ही तेरा तिरस्कार कर के अपराध किया है! अब उस को भूल जा!" पश्चात् राजा रानी दोनों अति प्रसन्न हो, उसी महल में रहे!

जिस प्रकार प्रज्ञादेवी को राजा प्रिय था इसी प्रकार संस्कार युक्त, आत्मभाव वाली बुद्धि को आत्मा ही सब से अधिक प्रिय होता है। वह आत्मा को कभी नहीं छोड़ती। ऐसी जिस की प्रज्ञा-बुद्धि हुई है, वह ही जीवन्मुक्त है जीवन्मुक्त को जो सुख होता है वह सुख राजा, महाराजा और इन्द्रादिक देवताओं को भी नहीं होता और विदेह कैवल्य में भी नहीं होता। वह सुख आनन्द का समुद्र है, आनन्द का पहाड़ है किंतु ज्ञाता के भिन्न भाव से रहित है। जीवन्मुक्त आनन्द का समुद्र होते हुए भी बाधानुवृत्ति से आनन्द का भोक्ता है, जीवन्मुक्त का आनन्द प्रत्यक्ष है, देश काल और शरीर के रूपांतर की उसे आवश्यकता नहीं है। पूर्ण जीवन्मुक्ति वही है जो विदेह की इच्छा रहित हो, जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दोनों से पर हो और साथ ही दोनों का अनुभव करने वाली हो। जिसने उसे प्राप्त कर लिया, उसने सब कुछ कर लिया, ब्रह्मांड को जीत लिया, हाथ में धर लिया, जो कोई सब के अधिपति-अधिष्ठाता--आधार का प्रत्यक्ष स्वरूप हो, वह ही जीवन्मुक्त है।

ज्ञानी का व्यवहार ।

जब व्यवहारासक्त मनुष्य ज्ञान और ज्ञानी की अत्यन्त प्रशंसा सुनते हैं तब ऐसे शंका किया करते हैं कि ज्ञानी पुरुष शरीर के साथ में जगत् का व्यवहार किस प्रकार करता होगा। वे अपनी बुद्धिके अनुसार इस प्रकार विचार करते हैं:—जब ज्ञानी में किसी प्रकार की कामना अथवा राग द्वेष नहीं तब व्यवहार का होना असम्भव है। राग द्वेष विना कोई व्यवहार नहीं हो सक्ता। राग द्वेष रहित कामना विना जब हमसे नहीं होता तो ज्ञानी से भी न होना चाहिये क्योंकि हम भी मनुष्य हैं और ज्ञानी भी मनुष्य है। यदि ऐसा मान लिया जाय कि ज्ञानी व्यवहार करता ही न होगा तो यह भी ठीक नहीं बैठता क्योंकि जगत् में ज्ञानी का व्यवहार भी शास्त्र द्वारा सुनने में आता है। किसी २ महात्मा सत्पुरुष को देखकर हम विना जाने ही ज्ञानी कहते हैं। उसके सब व्यवहार हमारे ही समान होते दीखते हैं तो ज्ञानी किस प्रकार व्यवहार करता होगा? यदि ऐसा विचारा जाय कि आत्मा का बोध रखते हुए ज्ञानी व्यवहार की चेष्टा करता होगा तो यह भी नहीं बनता क्योंकि लक्ष एक स्थान पर रहता है। आत्मा और व्यवहार दोनों में चित्त एक साथ नहीं रह सक्ता! इसलिये ज्ञानी का व्यवहार किस प्रकार होता होगा, यह हमारी समझ में नहीं आता!" ऐसी शंका की निवृत्ति ज्ञान विना यथार्थ रीति से नहीं हो सक्ती क्योंकि व्यवहार स्थूल में और स्थूल दृष्टि में होता है और ज्ञान आंतर में—साक्षी की दृष्टि में होता है।

स्थूल व्यवहार क्रिया रूप है और ज्ञान बोध रूप है। सृष्टि की स्थूल क्रिया अन्य के जाननेका विषय है और बोध आत्मा का होने से अन्य के जानने का विषय नहीं है इसलिये ज्ञानी का व्यवहार उनकी समझ में नहीं आता। मुमुक्षु ज्ञान के जितने संस्कारों से युक्त होते हैं, उतने प्रमाण में ही अनुमान से, 'ज्ञानी का आंतर भाव व्यवहार में कैसा होता है' इसका बोध कर सक्ते हैं। ज्ञानी के व्यवहार भाव को समझने के लिये अज्ञानियों को मुख्य आपत्ति तो यह आती है कि अज्ञानी अपने को शब्द मात्र से भले ही अज्ञानी कहे परन्तु जब वह किसी बात को समझने का प्रयत्न करता है तब 'मैं ज्ञानी हूँ, जानने को समर्थ हूँ' इस भाव से ही प्रयत्न करता है। अज्ञानी का ऐसा किया हुआ प्रयत्न कितना भी सूक्ष्म क्यों न हो परन्तु वह प्रयत्न ज्ञानी की कक्षा में न होने से सफल नहीं होता। जब प्रयत्न निष्फल जाता है तब निर्णय करने वाला प्रसंग को झूठ कहता है परंतु ऐसा कभी नहीं मानता है कि मैं झूठ हूं–अपने को अज्ञानी नहीं समझता। ऐसी आकांक्षा होना सब को स्वाभाविक है। छोटा बच्चा भी जब कोई बात उसकी समझ में नहीं आती तब 'क्यों, किस प्रकार, कैसे' इस प्रकार के प्रश्नों से आकांक्षा उत्पन्न करता है। सब अपने २ माप से ही सबको मापना चाहते हैं इसलिये अपने को अज्ञानी मानने वाला जगत् में ढूंढने से भी नहीं मिलता और जो कोई सच्चे दिल से अपने को अज्ञानी मानता है तो वह बहुत जल्दी ज्ञान मार्ग में प्रयत्न करने लगता है। जिस प्रकार स्वप्न की सृष्टि का निर्णय करना स्वप्न में अशक्य है; इसी प्रकार अज्ञा-

नियों को ज्ञानी का आंतर निश्चय जानना अशक्य है। अज्ञानी व्यवहारिक जगत् में है और ज्ञानी व्यवहारिक जगत् के साक्षी भाव में है। व्यवहारिक जगत् में डूबे हुए को साक्षी भाव समझने में नहीं आता। ज्ञानी का शरीर जगत् में है और जगत् में वर्तता है तो भी ज्ञानी ज्ञानी ही है और स्थूलता में वर्तता हुआ अज्ञानी अज्ञानी ही है। जैसे स्त्री की पोशाक पहिने हुए और स्त्री के समान चेष्टा करने वाले पुरुष को अज्ञानी स्त्री समझता है; इसी प्रकार ज्ञानी के उपाधि रूप शरीर को और प्रारब्ध की चेष्टा को देखता हुआ अज्ञानी भूल के कारण उसे अज्ञानी समझता है। व्यवहार की चेष्टा ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में समान होती है। अज्ञानी अज्ञानमें दब कर चेष्टा करता है और ज्ञानी अज्ञानकी चेष्टा को अज्ञान में न दब कर प्रारब्ध के वेगानुसार करता है। यह दोनों का अंतर है। व्यवहार में अंतर नहीं है। यदि व्यवहार और आकृति में अंतर हो तो स्थूल दृष्टि वाले अज्ञानी अपने और ज्ञानी के अन्तर को जान सकें! पशु चार पैर और दो सींग वाले होते हैं, मनुष्य दो हाथ और दो पैर वाले सींग रहित होते हैं, यदि ऐसा अंतर ज्ञानी और अज्ञानी में हो तो अज्ञानी समझ सकें परंतु ऐसा नहीं है, भेद तो आंतर निश्चय में है। दो मनुष्य वस्त्राभूषण पहिना कर चुप चाप खड़े कर दिये जांय तो बाहर से दोनों एक समान दीखते हैं, उनमें एक मूर्ख हो, दूसरा चतुर हो तो देखने से यह नहीं मालूम पड़ता क्योंकि सूक्ष्म बुद्धि में अन्तर है, स्थूल में नहीं है इसी प्रकार संसार में वर्तमान मूर्ख और चतुर के समान अज्ञानी और ज्ञानी हैं। ज्ञानी

और अज्ञानी का भेद आकृति और बुद्धि में भी नहीं है, निश्चय में है। आत्म ज्ञानी अत्यन्त बुद्धि वाला और व्यवहार में चतुर ही हो, ऐसा भी नियम नहीं है और अज्ञानी जड़ बुद्धि वाला और चतुराई रहित हो ऐसा भी नियम नहीं है। यह बात अवश्य है कि सूक्ष्म शुद्ध बुद्धि ज्ञान प्राप्तिरूप परमार्थकी सिद्धिमें मदद रूप होती है परंतु न्यून बुद्धि वाले, शास्त्र न पढ़े हुए भी आत्म के पूर्ण निश्चय से ज्ञानी होते सुने गये हैं और जाने जाते हैं। इसी प्रकार ज्ञानी में खास चमत्कार वाली सिद्धियों का होना भी आवश्यक नहीं है क्योंकि चमत्कार ज्ञान का नहीं होता, अंतःकरण की शुद्धि, तप, उपासना, योगादिक का होता है। इन सब कारणों से ज्ञानी का जानना अज्ञानियों का विषय नहीं है।

जो अंतःकरण को शुद्ध करके मुमुक्षु भाव को प्राप्त हुआ है, वह भी पूर्ण रीति से जान नहीं सक्ता कि ज्ञानी का व्यवहार किस प्रकार होता है परंतु अनुमान से कुछ लक्ष कर सक्ता है इसलिये वह ज्ञानी के आंतर भाव को जानने का प्रयत्न कर सक्ता है। जीव भाव अज्ञान है और आत्म भाव ज्ञान है। भाव किसी प्रकार का हो व्यवहार में हानि नहीं होती। जैसे जीव भाव रख कर व्यवहार के कार्य किये जाते हैं, इसी प्रकार आत्म भाव रख कर कार्य कर सक्ते हैं। कार्य करने के समय न तो जीव भाव की आवश्यकता है और न आत्म भाव की आवश्यकता है क्योंकि भाव बुद्धि से होता है और बुद्धि कार्य करते समय कार्य में लगी हुई होती है इसलिये भाव और कार्य में बुद्धि एक साथ नहीं

लग सक्ती। जीव भाव वाला कार्य को सत्य समझता है और आत्म भाव वाला कार्य को तुच्छ, व्यवहारिक और मिथ्या समझ कर करता है। दोनों की समझ का अंतर है, कार्य में अन्तर नहीं होता। जैसे किसी एक मनुष्य का नाम रामप्रसाद है, सुख दुःखादिक किसी हालत में भी 'मैं रामप्रसाद हूँ' उसका यह निश्चय निवृत्त नहीं होता। जब वह कोई कार्य करता है तब उसे यह भान भी नहीं रहता कि मैं रामप्रसाद हूँ और काम करता हूँ। इसी प्रकार जिसे ज्ञान होता है उसे आत्मा का निश्चय रामप्रसाद के निश्चय के समान दृढ़ होता है, व्यवहार में उसका निश्चय चला नहीं जाता परंतु जैसे रामप्रसाद को कार्य करते समय राम-प्रसाद का विशेष भाव नहीं रहता; इसी प्रकार ज्ञानी को आत्मा का विशेष भाव न होते हुए भी निश्चय चला नहीं जाता। चेष्टा दो प्रकार की होती है, एक सच्ची समझी हुई चेष्टा और दूसरी असत्य समझी हुई चेष्टा। झूठी समझी हुई मिथ्या चेष्टाओं में भी मनुष्यों की प्रवृत्ति देखते हैं। मिथ्या भाव से कोई प्रवृत्ति ही न हो ऐसा नियम नहीं है। इसलिये प्रारब्धानुकूल ज्ञानी की मिथ्या समझी हुई भी व्यवहार की प्रवृत्ति होती है। ऐसी प्रवृत्ति सुख दुःख का हेतु नहीं होती; सुख दुःख का असर आत्मिक भाव तक नहीं पहुंचता क्योंकि जिस अज्ञान से आत्मिक भाव तक असर पहुँचता था, वह अज्ञान अब नहीं रहा है इसलिये सुख दुःख अज्ञान तक ही होता है—अंतःकरण से आगे नहीं पहुंचता। यह सूक्ष्म भेद समझना अत्यन्त कठिन है। ज्ञानी की सब चेष्टा केवल शरीर, इन्द्रिय और अंतःकरण से होती है और वहां तक

ही सुख दुःख का भाव पहुंचता है, आत्मा से उसका मेल नहीं होता। इस सूक्ष्मता को सम्यक् ज्ञानी स्वयं ही समझ सका है।

औरंगजेब बादशाह ने सतारा के किले को घेर लिया था, चारों दिशाओं में चार मुख्य सरदार मोर्चेबन्दी किये हुए थे और स्थान २ पर चौकियां रक्खी थीं! सतारा के किले का किलेदार प्रयागजी प्रभु युद्ध की सब युक्तियों में निपुण था। उसके सिवाय किले में कई सरदार और सैन्य भी थी। सतारा के किले से थोड़ी दूर पर परली का किला था। उसका किलेदार परशुराम और त्र्यंबक प्रतिनिधि था। मरहठे सतारा के किले के ऊपर से और मुसलमान नीचे से लड़ते थे। मुसलमानों की सैन्य बहुत होते हुए भी मरहठों की युक्ति, प्रयुक्ति और शौर्य से तीन मास हो गये तब भी मुसलमानों के हाथ में किला न आया। मरहठे धीरे २ लड़ रहे थे। यह देख कर औरंगजेब को आश्चर्य हुआ! इसका कारण ढूँढने को उसने फकीर के वेष में एक जासूस को किले में भेजा। रात्रि के समय परली के किले में से सतारा के किले में अन्न और बारूद पहुँचा करता था। चंद्रसेन और यशवन्तराव अन्न पहुंचाने के कार्य में नियुक्त थे। मुसलमानों की आंखों में धूल डाल कर, चौकी पहरे से बच कर ये लोग सतारे के किले में अन्न ले आते थे। इस प्रकार सतारा का किलेदार तीन मास तक लड़ता रहा था। औरंगजेब का भेजा हुआ फकीर किले में गया और मार्ग में घूमने लगा। जहां दो चार मनुष्य कुछ बात करते हों वहां वह खड़ा रहता और कान लगा कर उन लोगों

की बातों को सुनता, भिक्षा का सवाल भी करता जाता था, कोई मकान दिखाई देता तो वहां खड़े होकर भिक्षा मांगता, इस प्रकार वह किले में घूम रहा था, घूमता २ एक सिपाही के छप्पर में पहुंचा और एक बुढ़िया को बैठी हुई देख कर कहने लगा "माई! अल्लाह के नाम से कुछ दिलवा!" सिपाही की बुढ़िया ने भोले भाव से कह दिया "आज तो घर में अन्न नहीं है, आज रात्रि को परली से अन्न आ जायगा, कल मैं तुमको भिक्षा दूंगी!" फकीर का कार्य सिद्ध हो गया, वह युक्ति से किले के बाहर निकल गया और बादशाह की छावनी में जाकर, परली से अन्न जाने का समाचार कहा। बादशाह ने सतारा और परली के मार्ग की आस पास की झाड़ी में रात्रि के समय बहुत सी मुगल सैन्य छुपा रक्खी। जब रात्रि में यशवन्तराव अन्न से भरी हुई गाड़ियों को लेकर आ रहा था तब मुसलमान झाड़ी से बाहर निकल आये। दोनों में बड़ा युद्ध हुआ। यशवन्तराव ने बहुत शौर्य दिखलाया! उसकी तलवार से कई मुसलमान मारे गये! अन्त में मुसलमान बहुत होने से यशवन्तराव मुसलमानों के हाथ में आ गया और औरंगजेब के हुक्म के अनुसार मुसलमानों ने उसे मारा नहीं, बन्दी करके बादशाह के पास ले आये। बादशाह ने उसे उसके पैर में एक भारी बेड़ी डाल कर बन्दी कर दिया।

इस बर्ताव के तीसरे दिन प्रातःकाल में बादशाह जंगल की तरफ टहल रहा था, प्रातःकाल के वायु का सेवन कर रहा था। उसके साथ में अजीमशाह शेरखान आदिक बड़े २ सरदार भी

थे। ये सब मरहठों की बात चीत करने में एकतार हो रहे थे। कुछ घोड़े सवार उनके आगे और कुछ पीछे थे। पास के घने वृक्षों में से एक भयंकर बाघ छलांग मार कर अचानक बादशाह के ऊपर कूदा। उसी समय बाघ के मुख में एक गोली लगी, बाघ पृथ्वी पर गिर पड़ा, बादशाह की जान बच गई। बादशाह और सरदार गोली मारने वाले को इधर उधर देखने लगे। दो सौ हाथ की दूरी पर हाथ में तमंचा लिये हुए एक घोड़े सवार दिखाई दिया। यह चन्द्रसेन था, यशवन्तराव को रसद लेकर गये हुए तीन दिन होगये थे, वह लौटा नहीं, यह देखकर चन्द्रसेन उसकी खोज में निकला था। उसे खबर मिल गई थी कि बादशाह ने यशवन्तराव को कैद कर लिया है इसलिये यह सोचता हुआ कि अब क्या करना चाहिये, वह किले की तरफ जा रहा था, बादशाह की दृष्टि अपनी तरफ हुई जानकर उसने उसके पास जाकर सलाम किया। चन्द्रसेन की निर्भयता और शौर्य देखकर और अपने साथ किये उपकार से बादशाह मुग्ध होकर बोला "तू शत्रु की तरफ का वीर है तो भी तूने इस समय मेरी जान बचाई है इसलिये मरण पर्यन्त मैं तेरा आभार मानूँगा! पाक परवर्दिगार तुझे हमेशा खुश रक्खे! ऐसी प्रार्थना करूँगा। इस समय जो तेरी इच्छा में आवे, सो मांग ले बादशाह औरंगजेब तुझे देने को तय्यार है!" चन्द्रसेन नम्रता सहित बोला "मनुष्य की मदद करना मनुष्य का कर्तव्य हैं, मैंने इतना ही किया है! आप खुदावन्द बखशीश देने को तैयार हैं, यह आपको योग्य ही है। आप गुस्सा न हों तो मैं अपनी इच्छा जाहिर करूँ!" बादशाह ने कहा

"जो तेरी इच्छा हो, खुशी से मांग, मैं अवश्य दूंगा!" चन्द्रसेन बोला "मेरी यह प्रार्थना है कि दो दिन पहले जिस मरहठे सरदार को आपने कैद किया है, उसको छोड़ देने की कृपा कीजिये!" बादशाह बोला "तेरी इच्छा पूरी करना बहुत कठिन है! हमारे हाथ में आये हुए शत्रु पक्ष के एक शूरवीर सरदार को छोड़ देना, अपने हाथ से ही अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारना है, तो भी मैंने तुझे जो वचन दिया है उसको भंग न करूंगा। तू मेरे साथ छावनी में चल, मैं तेरे सरदार को तुझे दे दूंगा!" छावनी में जाकर बादशाह ने यशवन्तराव को मुक्त किया और चन्द्रसेन को भारी पोशाक बख़शीश देकर कहा "जब तक तुम अपने क़िले में न पहुंच जाओगे तब तक तुम हमारे जानी दोस्त हो, बीच में हमारी तरफ़से तुम्हें कोई पीड़ा न होगी!" चन्द्रसेन और यशवंतराव दोनों किले में पहुँच गये। इसके बाद किले के ऊपर से मरहठों ने इतना पराक्रम किया कि पांच मास तक क़िले को हाथ से जाने न दिया! मरहठोंकी दृढ़ता से औरंगजेब को भी किले लेने की पूर्ण हठ रही। किले में अन्न जाना तो बन्द हो ही गया था, विशेष समय तक लड़ते रहने से योद्धा भी बहुत कम रह गये थे। सब सरदारों ने मिल कर विचार किया तो यह निश्चय हुआ कि बचे हुए योद्धाओं को किला छोड़ देने में ही भलाई है। यशवंतराव अजीमशाह की छावनीमें पहुँचा और कहने लगा "सुलतान साहब! आपको यह खबर तो है ही कि जब से मैं पकड़ा गया हूं तब से क़िले में अन्न आना बंद होगया है, लोग भूख से मरते हैं, इसलिये संधि कर लेना दोनों पक्षों के लिये अच्छा है। यदि

आप हमारी वस्तुओं और हमारे शस्त्रों सहित हम लोगोंको किले से बाहर चले जाने दो तो हम तुमको किला सौंपने के लिये तैयार हैं।" यह सुन कर अजीमशाह खुश हुआ परन्तु खुशी न दिखलाता हुआ बोला "तुमने इस लड़ाई में हमारा बहुत नुक़सान किया है, मुझे यकीन नहीं है कि बादशाह इतने ही करार पर तुम को छोड़ देगा। तो भी मैं बादशाह से जाकर कहता हूँ।" बादशाहकी अनुमति से ऐसा निश्चय किया गया कि मरहठों में से दो सरदार किले की चाभी लेकर बादशाह के पास जांय, और बादशाह उन दोनों सरदारोंकी कोई भी व्यवस्था करने को स्वतंत्र है। बाकी सब लोगों को उनकी वस्तुओं और शस्त्रों सहित किले में से बाहर चले जाने देंगे, उनकी कुछ भी हानि न होगी। मरहठों ने लाचारी से यह करार कबूल कर लिया। युद्धके अन्तमें हारने वाले सरदारों को जीतने वाले के ताबे में आना मृत्यु के मुख में जाने के बराबर है! स्वदेश बांधवों के कल्याण के निमित्त यशवन्तराव और चन्द्रसेन ने जमानत रूप से बादशाह के पास जाना आनन्द पूर्वक स्वीकार किया। दोनों अपने हाथों को रूमाल से बांध कर बादशाह की छावनी में गये। किले की चाभियां बादशाह के सामने रख कर यशवन्तराव बोला "बादशाह सलामत! अपने करार के अनुसार हम दो मनुष्य आपके हुजूर में आये हैं, अब आप अपने वचन का पालन करके लोगों को किले में से बाहर जाने की परवानगी दीजिये।" बादशाह ने "बहुत अच्छा" कह कर लोगों को किले में से सुख पूर्वक निकल जाने की स्वीकृति दी और साथ ही दोनों मरहठे सरदारों के शिर उड़ा

देने का भी हुकुम दिया। यह बात पास बैठे हुए अजीमशाह और तरबियतखां आदिक सरदारों को अच्छी न लगी और उन्होंने दोनों बन्दियों पर रहम करने की प्रार्थना की। अजीमशाह ने अपने पिता औरंगजेव से विनती करते हुए कहा "पिता जी! इस शूरवीर चन्द्रसेन ने एक वार आपको वाघ के पंजे से बचाया था इसलिये उसको तो अवश्य जीवनदान मिलना चाहिये!" यह वात वादशाह ने कबूल करली और चन्द्रसेन को क्षमा देकर यशवन्तराव को ही वध करने की आज्ञा दी। यह सुनते ही चन्द्रसेन के शिर पर महान् पहाड़ सा टूट पड़ा! वह इतना दुःखी हुआ कि उसके नेत्रों में जल भर आया, कंठ रुक गया और आंखों के सामने अंधेरा छा गया! थोड़ी देर के वाद दीनमुद्रा से कहने लगा "हुजूर आला! मेरा सिर धड़ से अलग कर दीजिये, मेरी चाहे जैसी दुर्दशा कीजिये, परंतु यशवन्त को प्राणांत दण्ड से मुक्त कीजिये, मैंने इसके लिये ही इतने संकट और जंगलों के दुःखों को सहन किया है! मैंने गुप्त वेप में रह कर, अपनी पहिचान न होने दे कर उसके कल्याण के निमित्त अनेक कष्ट सहे हैं! प्रत्यक्ष जन्मदाता पिता की आज्ञा का उलंघन किया है! यह भी उसी के लिये किया है! उसका इस प्रकार अंत होता हुआ मैं किस प्रकार देख सक्ता हूँ? मेरी यह प्रार्थना है कि मुझे थोड़ी देरके लिये किले पर जानेकी आज्ञा दीजिये, क्षण मात्र में सब भेद आपके जानने में आ जायगा!" यह वचन सुन कर बादशाह ने भेद जानने की इच्छा से चन्द्रसेन को किले पर जानेकी परवानगी दी। दो घंटेके वाद किलेकी तरफ

से एक अश्वारूढ़ सुन्दरी छावनी की तरफ आती हुई सब ने देखी ! यह सुंदरी विशेष अलंकार न होते हुए भी सौन्दर्य से कामदेव की प्रिया रति को भी लज्जित करती हो, ऐसी थी ! वह घोड़े पर से उतर कर बादशाह के पास चली आई। सब उसे देख कर आश्चर्य को प्राप्त हुए। बादशाह भी चकित हो गया। यशवंतराव उसे देखते ही पहिचान गया और जी में विचारने लगा "हाय ! इतने दिनों से यह मेरे सहवास में थी तो भी मैं उसे पहिचान न सका। यह मेरी कैसी अधमता !" ऐसा विचारते हुए यशवन्तराव को लज्जा का भी भास हुआ, अभी तक तो वह मरने के लिये उत्सुक था, अब उसे जीने की इच्छा उदय हो आई ! "इस चन्द्रसेना का मुझ पर कितना अलौकिक प्रेम है। साहस, धैर्य, शौर्य आदि गुण कितने अद्वितीय हैं, कितना संकट सह कर अन्त में मेरे लिये मरने को भी तैयार हुई !" इस प्रकार के विचारों से यशवन्तराव का अन्तःकरण भर गया ! सुन्दरी बादशाह के पैरों पर गिर कर बोली "खुदावन्द ! जैसी शाहजादी रोशनआरा आपकी कन्या है, ऐसी ही मैं भी आपकी धर्म कन्या हूँ, आप अनाथों के नाथ हैं, दीन जनों के मित्र हैं। मैंने जिस अपने प्यारे नाथ के लिये इतने संकट सहे हैं, यदि वह हमेशा के लिये चला जाय तो मैं जीकर क्या करूंगी ? मैं भी उसके साथ जलकर सती हो जाऊंगी।" चंद्रसेनाके ऐसे हृदय-द्रावक वचन सुन कर बादशाह का दिल पिघल गया। वह गंभीरता से बोला "प्यारी दुख़तर ! भय न कर, मैं यशवन्तराव

को अभय देता हूं, तू कौन है, किस की कन्या है, यह जानने को हम सब उत्सुक हो रहे हैं, हमारी उत्कंठा को पूर्ण कर !"

चंद्रसेना ने अपना वृत्तांत कहना आरंभ किया:—"बादशाह सलामत ! मैं परशुराम पंत प्रतिनिधि की कन्या हूँ, मैं अपने पिता की प्राण समान प्यारी हूं। यह यशवंत हमारे घर बारंबार आया जाया करता था। मेरे पिता का विचार इसके साथ मेरा विवाह करने का था। मैं भी इसके गुण सुन कर मुग्ध हो गई थी ! परंतु ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके देश सेवा में संपूर्ण आयु व्यतीत करने के उसके निश्चय से मैं और मेरा पिता निराश हुए। मैंने निश्चय कर रक्खा था कि जिसको एक बार मैंने अंगीकार किया है, उसे छोड़ कर अन्य से विवाह न करूंगी अन्य सब तो मेरे पिता, भाई हैं। यशवंत का निश्चय फिराने को बहुत से उपाय किये गये परंतु सब निष्फल गये। तब मैंने अंत में निश्चय किया कि पुरुष का वेष धारण करके इस समर यज्ञ में मुझे भी अपने प्राण की आहुति दे देना चाहिये और मरण पर्यन्त मन से माने हुए पति के सहवास में ही रहना चाहिये। कृपा कर के इससे पूछिये कि अब इसका क्या विचार है जिस से मेरे सुख दुःख का निर्णय हो जाय।" यशवंतराव बोल उठा "जो कुछ हो चुका है उसका कोई उपाय नहीं है। अब मेरे शरीर में जब तक प्राण है-तब तक मैं तुझे अलग नहीं करूंगा।" इस चमत्कारी वृत्तान्त से सब सुनने वाले आनन्द में लीन हो गये चन्द्रसेना का अद्भुत चातुर्य और तारे के समान तेज देख कर

बादशाह ने प्रसन्नता में ही सतारा के किले को अजीम तारा ऐसा नवीन नाम दिया। अजीम तारा सतारा के किले में लग्न मंडप बांधा गया, दोनों का विवाह हुआ, उस विवाह में अपने सरदारों सहित बादशाह ने आकर सब को संतोष दिया।

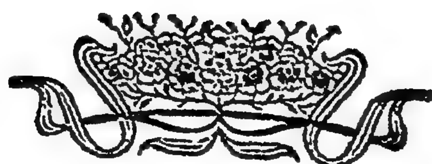
ऊपर के ऐतिहासिक दृष्टांत में फकीर के रूप से जासूस ने और चन्द्रसेन के रूप से चन्द्रसेना ने जो बर्ताव किया, उसके समान ज्ञानी का वर्ताव होता है वे दोनों वर्ताव करते हुए अपने को भूले नहीं थे। जासूस ने फकीर का वेष धारण किया था परंतु 'मैं फकीर हूँ, कंगाल हूँ' इस प्रकार के भाव से वह रहित था। देखने वाले उसे फटे टूटे वस्त्र वाला भिखमंगा समझते थे परंतु वह अपने दिल से अपने को भिखमंगा नहीं समझता था, किसी क्रिया में उसकी आसक्ति नहीं थी। वह ऐसा समझता था कि बादशाह जो भेद जानना चाहता है उस भेद के जानने के लिये ही सब चेष्टा है। जिस प्रकार एक फकीर और कँगले का भाव होता है, ऐसा भाव उसका नहीं था। वह भीख के लिये भीख नहीं मांगता था, भेद जानने के निमित्त भीख मांगता था। भोजन के लिये घर २ भटकता हुआ भी भोजन के लिये नहीं भटकता था। इसी प्रकार ज्ञानी के व्यवहार को समझो। यद्यपि जासूस में सीधी कामना नहीं थी परंतु भेद जानने की कामना थी, ज्ञानी में तो इस प्रकार की कामना भी नहीं होती। जिस प्रकार जासूस बादशाह के निमित्त चेष्टा करता था; इसी प्रकार ज्ञानी की चेष्टा प्रारब्ध पूर्ण करने को होती है चन्द्रसेना अपने

प्रेमी के साथ रहना चाहती थी। यह बात सिद्ध करने के लिये उसने पुरुष का वेष धारण किया और वीर पुरुष के समान अनेक स्थानों पर युद्ध किया। सब उसे जवान योद्धा समझते थे परन्तु वह अपने दिल में जानती थी कि मैं वीर पुरुष नहीं हूँ। अन्त समय तक उसका आंतरिक भाव चन्द्रसेना का ही रहा भूल से भी उसने अपने को चन्द्रसेन नहीं समझा। बादशाह, यशवंतराव और सब लोगों में से किसी ने उसे चन्द्रसेना नहीं जाना, तो भी वह तो चन्द्रसेना ही थी। इसी प्रकार ज्ञानी का भाव यद्यपि दूसरों के जानने में नहीं आता तो भी वह तो अपने निश्चय में–हृदय में–ज्ञान स्वरूप ही होता है। तमाशा करने वाला किसी का स्वांग ठीक २ करके दिखलावे तो भी जैसे मैं अमुक पुरुष हूँ इस निश्चय से नहीं हटता; इसी प्रकार ज्ञानीके स्वरूपका निश्चय न हटता हुआ अखंडित रहता है। जैसे तमाशा करने वाले को तमाशा करते समय अपना बोध बाध रूप नहीं होता; इसी प्रकार ज्ञानी को व्यवहार में भी ज्ञान स्वरूप बाधक नहीं होता।

जब कोई मनुष्य नाटक का तमाशा देखने जाता है, तब क्या समझ कर जाता है? तमाशे को झूँठा समझ कर ही जाता है, झूँठे जाने हुए तमाशे में भी तमाशा देखने जाने की रुचि होती है; इसी प्रकार झूँठे समझे हुए तुच्छ जगत् में भी प्रारब्धानुसार ज्ञानी की प्रवृत्ति होती है। तमाशा देखने गया हुआ मनुष्य तमाशे को झूठा जानता हुआ भी करुणा के दृश्य से

करुणा वाला होता है, वीर रस देख कर वीरपने में आता है और भयंकर बीभत्सादि दृश्यों में डरता है आश्चर्य को प्राप्त होता है यह चेष्टा जैसे सत्य समझे हुए में होती है, ऐसी ही वहां भी होती है परन्तु निश्चय का अन्तर है। नाटक के दृश्य से आये हुए करुणा आदिक भावों में तमाशे की सत्यता न होने से वे भाव अंतःकरण की गहराई में नहीं जाते और जो भाव सच्चे माने हुए संसार में किसी प्रसंग से होता हैं, उसकी गहराई विशेष होती है। इसी प्रकार ज्ञानी का व्यवहार झूंठे समझे हुए तमाशे के समान गहराई रहित होता है। व्यवहारिक भाव ऊपर ही आते हैं और ऊपर से ही उड़ जाते हैं इसलिये। ज्ञानी निर्दोष रहता है। जैसे कांच के ऊपर पड़ी हूई धूल हाथ अथवा कपड़े से निवृत्त हो जाती है और धातु के ऊपर चढ़ी हुई काई बहुत प्रकार मांजने घिसने से ही निवृत्त होती हैं, कांच में पड़ी हुई धूल कांच से चिपटती नहीं है और धातु में लगी हुई काई धातु से चिपट जाती है; इसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी का व्यवहार है। पानी से लिखे हुए अक्षर पानी सूखने तक ही रहते हैं और पत्थर में खोदे हुए अक्षरों को गहराई तक घिस न डालें तब तक नहीं जाते; इसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी का व्यवहारिक भाव है अज्ञानी ज्ञानी को अपने समान कर्ता भोक्ता देखे तो इससे ज्ञानी कर्ता भोक्ता हो नहीं जाता। जैसे अँधेरे में पड़ी हुई रस्सी को सर्प जानने से उस सर्प के विष से रस्सी विष वाली नहीं होती; इसी प्रकार अज्ञानी के

किये आरोप से ज्ञानी दूषित नहीं होता। ज्ञानी और ज्ञान विलक्षण हैं, उनका व्यवहार विलक्षण है, जो उन्हें तत्त्व से जान जाता है वह तत्त्व रूप हो जाता है। ज्ञानी का संग, ज्ञानी पर भाव, ज्ञानी के वाक्यों का श्रवण, सुने हुए को समझना, समझे हुए को टिकाना इससे अज्ञान की निवृत्ति होती है। अज्ञान की निवृत्ति से ज्ञान होता है, ज्ञान से साक्षात्कार होता है और साक्षात्कार से पूर्ण स्थिति होती है। ये सब एक से एक कठिन है शुभ संस्कार से, पूर्ण प्रयत्न से, आत्म कृपा, ईश कृपा और गुरु कृपा से हजारों लाखों में कोई एक दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करता है। ऐसे पुरुष को धन्य है! धन्य है!! वारंवार धन्य है!!!



विदेहमुक्ति ।

जिसको मोक्ष, परमपद, परमधाम, कैवल्य, निर्वाण, परमानन्द स्वरूप इत्यादि कहते हैं, वह ही विदेहमुक्ति है। ये सब शब्द परम कल्याण के पर्याय रूप हैं। जैसे बन्ध और मोक्ष का कथन मायिक है इसी प्रकार विदेहमुक्ति शब्द भी मायिक ही है। विदेहमुक्ति का स्वरूप कथन से बाहर है। जिस प्रकार बन्धन की अपेक्षा से मोक्ष का कथन है इसी प्रकार जीवन्मुक्ति की अपेक्षा से विदेहमुक्ति का कथन है। जीवन्मुक्ति से अन्य प्रकार की मुक्ति समझने को विदेहमुक्ति शब्द की प्रवृत्ति है। जैसे बंधन और मोक्ष एक दूसरे के समझने में अपेक्षायुक्त होते हुए भी मोक्ष स्वरूप में दोनों में से किसी का भी अनुसन्धान नहीं है; वैसे ही परम तत्त्व में जीवन्मुक्ति अथवा विदेहमुक्ति कोई भी नहीं है। जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति स्वरूप से परम तत्त्व ही हैं। जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति का भेद और दोनों के लक्षण व्यवहारिक सत्ता में उपयोगी हैं और पारमार्थिक में तो दोनों स्वरूप से एक ही हैं। व्यवहारिक शरीर का भान रहते हुए परम तत्त्व के निश्चय में टिकाव होना जीवन्मुक्ति कहलाती है और स्थूल शरीर होते हुए शरीर के भान रहित अथवा स्थूल शरीर न होते हुए परम तत्त्व में टिकाव होने को विदेहमुक्ति कहते हैं। जैसे कोई मनुष्य थोड़े समय में मृत्यु को प्राप्त होने वाला हो; वह स्वयं भी जानता हो कि वह आधे या पाव घंटे जगत् में रहने वाला है, फिर भी उसे शरीर का भान हो, उसको इस अंश में जीवन्मुक्ति के समान

समझो और जो कोई घण्टे आध घण्टे में मरने वाला हो, शरीर में प्राण चलते हुए भी जिसे अपने शरीर का भान न हो, शरीर के भान न होने के अंश में उसे विदेहमुक्ति के समान समझो अथवा शरीरान्त होने के बाद शरीर रहते हुए भी ऐसा जो कहा जाता है कि अमुक मनुष्य मर गया उसका शरीर नहीं रहा, क्योंकि शरीर वाले की प्रतीति नहीं होती, इस अंशमें वह विदेह-मुक्ति के समान है। जो मर गया, उसका शरीर-शव से संबंध नहीं है तो भी लौकिक में पूर्व के संबंध की स्मृति लेकर ऐसा कहा जाता है कि यह अमुक का शरीर है, इस प्रकार अब सम्बन्ध रहित भी सम्बन्ध के अनुसन्धान से कहा हुआ विदेह मुक्तिके समान है। वस्तुतः तो विदेहमुक्ति मरने के समान नहीं है क्योंकि मरने वाले का व्यक्तित्व नहीं टूटता और विदेहमुक्त के व्यक्तित्वका परमतत्त्वमें लय होजाता है। जब रूपांतर वाले एकसे दूसरे रूपको प्राप्त होते हैं तब ऐसा कहा जाता है कि उनके रूपान्तर हुआ। जहां रूपान्तर न होते हुए मूलसहित समग्र अज्ञानकी निवृत्ति होजाती है और परम तत्त्व ही शेष रहता है वहां ऐसा कहा जाता है कि अमुक पुरुष विदेह कैवल्य को प्राप्त हुआ—परमतत्त्व में लय हुआ। यह कहना मायिक यानी मिथ्या है क्योंकि परमतत्त्व में व्यक्तित्व अथवा किसी प्रकार का मायिक लेप नहीं हुआ है, मात्र अज्ञान से प्रतीत होता है, वह न होना—व्यक्तित्व का लय विदेह-मुक्ति कहलाता है परन्तु तत्त्व में न तो बन्धन है और न जीव-न्मुक्ति है तब विदेहमुक्ति कहां से हो। समझाने को कहा जाता है। विदेहमुक्ति में न तो व्यक्तित्व है, न व्यक्तित्व का अहंकार है,

न व्यक्ति है, न इनका अनुसन्धान है। विदेहमुक्ति परमतत्त्व है उसे त्रिकाल में भी किसी प्रकार का स्पर्श नहीं है।

सामान्य मनुष्य विशेष अहंभावको ही अपना स्वरूप मान रहे हैं; इसीसे यह स्थिति ज्ञानस्वरूप होनेसे उनके समझनेका विषय नहीं है। इसका कुछ लक्ष ज्ञानी कर सकता है, अज्ञानी किंचित् भी नहीं कर सकता। यह मुमुक्षुओंके भी यथार्थ समझनेका विषय नहीं है। जीवन्मुक्त ही विदेहमुक्ति को समझने में समर्थ होता है क्योंकि जीवन्मुक्त व्यवहार में होता हुआ और भाव से मुक्त होता हुआ भी विदेहमुक्त ही होता है इसलिये विदेहमुक्ति के स्वरूप को समझ सकता है। त्रिपुटी से परे अहंभाव से रहितता में जिसे शून्य भासता हो, आनन्द न भासता हो, उसके समझने का भी यह विषय नहीं है। सदेह मिथ्या है और विदेह सत्य है। जिसे सदेह मिथ्या होनेका किंचित् भी ख्याल नहीं है, वह विदेहको पसन्द नहीं करता। कई अपनेको ज्ञानी माननेवाले भी विदेह को नापसन्द करते हैं, वे कार्यब्रह्मको ही परमतत्त्व समझते हैं। यदि शुद्ध और दृढ़ बोध हो तो वे ब्रह्मलोक में स्थिति करते हैं और कुछ समय बाद अन्त में उन्हें कारण ब्रह्म रूप विदेह कैवल्य को प्राप्त होना ही पड़ता है।

विदेहमुक्ति शरीर रहते हुए और शरीर न रहते हुए दोनों प्रकार की होती है, प्रारब्ध का किंचित् भोग रहते हुए शरीर का भान न हो और पूर्ण ज्ञान का लक्ष हो जाय, यह शरीर

सहित विदेहमुक्ति है, इसमें मुक्त पुरुष अपने को नहीं जानता, दूसरे को नहीं जानता, उसे अपने शरीर का, दूसरे के शरीर का और पदार्थों का व्यवहारिक बोध नहीं होता, वह स्वेच्छा से शरीर की कोई क्रिया नहीं करता, अपने पराये को नहीं जानता, सब इन्द्रियां भी भाव रहित हो जाती हैं। इस अवस्था में शरीर की जो चेष्टा होती है, वह दूसरे द्वारा होती है। पूर्व के अभ्यास मात्र से शरीर चेष्टा करता है। इस चेष्टा में चेष्टा, चेष्टा करने वाले के बोध आदि का कोई सम्बन्ध नहीं होता। जब कोई मनुष्य मुख के सामने ग्रास लेजाकर धरता है तब मुख खुल जाता है, खाने लगता है, जब खा चुकता है, मुख बन्द हो जाता है, मुख खोलना, ग्रास लेना, खा लेना अब खाचुका हूं, अब नहीं खाता, इत्यादि क्रिया विशेष बोध से रहित होती है, कर्तापने का लेश भाव भी नहीं होता तब क्रिया का भान किस प्रकार हो? टट्टी, पेशाब, सोना, बैठना, चलना आदिक सब क्रिया व्यवहारिक बोध रहित स्वाभाविक हुआ करती है। ऐसे को आज कल अवधूत या परमहंस कहते हैं। विदेहमुक्ति वाला ही स्वरूप से परमहंस है। ऐसे सन्त का शरीर पृथ्वी पर अधिक समय तक नहीं रहता क्योंकि किंचित् प्रारब्ध शेष होनेमें ही ऐसी अवस्था प्राप्त होती है; ऐसे पुरुष से अधिकारी पुरुष ही कुछ लाभ उठा सकता है। सामान्य मुमुक्षु अपने कल्याण के निमित्त पूर्ण लाभ नहीं उठा सकता क्योंकि विदेही सन्त उपदेश देने के योग्य नहीं होता लौकिक शुद्धि आदिक फल तो उसके दर्शन, स्पर्श, रज और परमाणु लगने से ही हो जाता है। पवित्र ही दूसरे को

पवित्रकर सकता है। ऐसे शरीरके दर्शन होना, उस पर भाव होना महान् पुण्यका देने वाला होता है। जो परम तत्त्वमें स्थित होते हुए भी बोध सहित व्यवहारिक चेष्टा करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जीवन्मुक्त भावसे विदेहमुक्त ही होता है। जिसे शरीर मिथ्या होजाने पर भी शरीर का बोध है, वह ज्ञानी पुरुष भाव विदेह है; और जिसे अपने शरीर का बोध नहीं है किंतु शरीर है, वह स्वरूप से विदेह मुक्त है तो भी शरीर प्राण संयुक्त होने से शरीर रहित की अपेक्षा से स्वरूप विदेही न्यून है। जीवन्मुक्त जो भाव विदेह है, वह भी विदेह ही है क्योंकि सब स्थूल की रचना भाव से है इसलिये भाव न होने से विदेह ही है यानी अवश्य होने वाला है। जो कार्य ब्रह्म में विदेहमुक्ति मानते हैं वे भी शरीर सहित ही विदेह हैं परन्तु उनके विदेह में अन्तर है। वे शरीर होने की भावना से शरीरी और भावना के अभाव में इसी प्रकार अशरीरी है इसलिये शरीर न होते हुए भी उनमें शरीर होने का बीज अवश्य है इसलिये वे शरीर सहित विदेही हैं।

स्थूल शरीर को छोड़ कर निर्वाण को प्राप्त होने वाले जीवन्मुक्त तीनों शरीरों के अन्त सहित विदेहमुक्त होते हैं, ये एक प्रकार के हैं, जीवन्मुक्ति विना, तीनों देह सहित कोई विदेहमुक्त नहीं हो सकता। जितने अधिकारी वर्ग हैं उनका प्रारब्ध एक ही साथ कई जन्म का होता है, जब वे सब प्रारब्ध को समाप्त कर लेते हैं तब तीनों शरीरों को त्याग कर शरीर रहित विदेह

कैवल्य को प्राप्त होते हैं, ये दूसरे प्रकार के हैं। सामान्य मनुष्यों से अधिकारी वर्ग में यह विशेषता है कि वे जीवन्मुक्त होते हुए भी प्रारब्धानुकूल जन्म को धारण करते हैं। सामान्य मनुष्य तो जीवन्मुक्ति को प्राप्त कर लेने के बाद अन्य शरीर धारण नहीं करता। जो बोध सहित ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, उनको उपदेश बिना ही ब्रह्मलोक में दृढ़ तत्त्व बोध हो जाता है और ब्रह्मा के साथ वे भी विदेह कैवल्य को प्राप्त होते हैं, ये शरीर रहित तीसरे प्रकार के हैं। इनके स्थूल और सूक्ष्म शरीर यहां के समान नहीं होते और कारण शरीर भी विलक्षण होता है, शुद्ध और तत्त्व बोध की विशेषता वाला होता है। विदेहमुक्ति तीनों शरीर छोड़ने से ही होती है। जब कोई भी शरीर शेष न रहे तब ही शरीर रहित विदेह कैवल्य होता है। ब्रह्मलोक वाले का कारण शरीर ही होता है तो भी कारण के अन्तर्गत तीनों शरीर होते हैं। वे तीनों शरीरों को त्याग कर ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं। शरीर सहित विदेहमुक्ति और शरीर रहित विदेहमुक्ति दोनों अंतिम फल में एक ही हैं क्योंकि शरीर सहित को भी भाव से विदेहमुक्ति प्राप्त ही है। सूक्ष्म से ही स्थूल होता है इसलिये भाव विदेहवाला भी शरीर रहित विदेहमुक्तिको अवश्यही प्राप्त करेगा, भाव विदेहमुक्ति और स्वरूप विदेहमुक्ति में इतना अंतर है कि भाव वाले को कुछ विलम्ब है और स्वरूप वाला प्राप्त हो चुका है। जिसे दृढ अपरोक्ष ज्ञान हो चुका है किंतु जीवन्मुक्तिका अवर्णनीय आनन्द प्राप्त नहीं हुआ है, शरीरान्तमें उसे विदेह कैवल्य की प्राप्ति अवश्य होती है; ऐसा शास्त्र का

कथन है इसका भाव यह है कि शरीरान्त के कुछ समय प्रथम जीवन्मुक्ति अवश्य होती है इसलिये कोई विरोध नहीं है जीवन्मुक्ति चाहे विशेष समय रहे, चाहे थोड़े समय रहे, इसमें किसी प्रकार की हानि नहीं है। जीवन्मुक्ति से ही विदेहमुक्ति होती है, मृतमुक्ति से विदेहमुक्ति नहीं होती। जो विदेहमुक्ति शरीर रहित होती है, उसमें और परमतत्त्व में किंचित् भी अन्तर नहीं है। विदेह कैवल्य में परमतत्त्व ही शेष रहता है। प्रकृति से लेकर विकृति तक की जितनी उपाधियां हैं उनमें से कोई भी नहीं रहती, प्रकृति और विकृति की सब प्रकार की भिन्नता का लोप हो जाता है, यानी जो २ भासमान और तत्त्व से विलक्षण विकारी है, कोई भी नहीं रहता। जब तक इनमें से कोई भी शेष रहे तब तक शरीर रहित कोई भी विदेह कैवल्य को प्राप्त नहीं हो सकता।

जो स्थिति परब्रह्म की है, वह ही स्थिति विदेहमुक्त की है। व्यक्तित्व के कारण सहित सम्पूर्ण व्यक्तित्व को छोड़ कर अपने अनादि अनंत तत्त्व में विदेहमुक्त स्थित होता है। लोग जिस प्रकार देश काल और अवस्था समझते हैं, वह स्थिति ऐसे देश कालादि से रहित है, वहां न एकता है, न भिन्नता है, न प्रकाश है, न अंधेरा है, लौकिक प्रकाश और अंधेरा दोनों से रहित है, नाम रूप से रहित है, द्वैत अद्वैत से रहित है, द्वैत अद्वैत दोनों में से किसी की भी वहां गम नहीं है, है या नहीं है, कुछ भी कह नहीं सकते। जीव, ईश्वर, परब्रह्म और सृष्टि का

वहां भेद नहीं है, न कोई स्वभाव है न कोई क्रिया है, न अक्रिया है, न नीचा है, न ऊंचा है, न शुद्धाशुद्ध है! न जड़ न चेतन है! न कोई इन्द्रिय है, न विषय है, न भोक्ता है न भोग्य है। वहां का लक्ष होना कठिन है लौकिक बुद्धि के बाहर का विषय है! जो वैसा ही हो जाता है, वह ही उसका अनुभव कर सकता है इसलिये ज्ञानी जीवन्मुक्त ही उसको किंचित् जानने में समर्थ होता है।

तत्त्व जानने वाले सब ही देह रहित विदेहमुक्ति को मानते हैं। कोई कोई जीवन्मुक्ति को नहीं मानते किंतु विदेहमुक्ति को वे भी स्वीकार करते हैं। इन लोगों का यह आशय है कि व्यक्तित्व सहित मुक्ति कहना ठीक नहीं है इसलिये ये लोग भाव मुक्तिरूप जीवन्मुक्ति को मुक्ति नहीं मानते, स्वरूप मुक्ति को ही मुक्ति कहते हैं परन्तु श्रुतियों में अनेक स्थानों पर ऐसे भाव वाले वचन कहे हैं कि मुक्त होकर ही मुक्त होता है इसलिये अपूर्ण होते हुए भी जीवन्मुक्ति मुक्ति ही है। जीवन्मुक्ति न मानने में यह दोष हैः-यदि जीवन्मुक्ति स्वीकार न करें, तो सब अज्ञानी ही ठहरें, अज्ञानी ज्ञानका उपदेश दे नहीं सकता, तब वेदान्त के आचार्य का लोप मानना पड़े, वेदान्ताचार्य का लोप होने से ब्रह्म विद्या का जानने वाला और मुक्त कोई न रहेगा। यह दोष होने से जीवन्मुक्ति मानना ही ठीक है। जीवन्मुक्ति ही में विवाद है, विदेहमुक्ति में किसी का विवाद नहीं है। विचार दृष्टि से देखा जाय तो जब तक शरीर है, जब तक व्यक्तित्व का भाव है तब तक संपूर्ण भय की निवृत्ति होना अशक्य है॥ शरीर

ही दुःख का स्थान है, अनेक प्रकार के रोगों का घर है, उसके रहते हुए परमानन्द हो नहीं सकता। शरीर चाहे दिव्य हो, चाहे अदिव्य हो, दुःख रहित नहीं है इसलिये परब्रह्म के बोध सहित शरीर की निवृत्ति अन्तिम है और वह ही देह कैवल्य है। परब्रह्म ही सबका उत्पत्ति स्थान है, सबको चैतन्यता और स्फूर्ति वहां से ही प्राप्त होती है इसलिये सबका अन्तिम भी वह ही हो सकता है। यद्यपि लय स्थान और उत्पत्ति स्थान मध्यम से ही प्रतीत होते हैं तो भी जिसे उत्पत्ति मालूम हो रही है, उसको परम शांति के लिये लय रूप विदेह कैवल्य भी आवश्यक है। जैसे पक्षी और मनुष्य अनेक स्थानों पर घूम फिर कर अपने ही घर में शांतिको प्राप्त होते हैं; इसी प्रकार प्रत्येक का आदि घर परब्रह्म है। संसार में चौदह भुवनोंमें अनेक योनियों में भटकते भटकते जब तक अपने आद्य स्थान को प्राप्त नहीं होते तब तक हमेशा के लिये अशांति की निवृत्ति नहीं होती और परम शांति की प्राप्ति नहीं होती। वह ही आद्य स्थान यथार्थ में विदेहमुक्ति के बाद है। पृथ्वी पर जितने जल के स्थान हैं, उन सबका जल समुद्र का ही है, समुद्र के सिवाय अन्य किसी स्थान का जल नहीं है। संपूर्ण विविध जल का खजाना समुद्र ही है। समुद्र का जल ही भाप हो कर आकाश में उड़ कर योग्य समय में वायु आदि से प्रेरित हो कर स्थूल होकर वर्षा रूप से पृथ्वीके सब स्थानों में जाकर गिरता है। नदी, नाले, पहाड़, जमीन सब में वह ही जल आता है। जिस २ के साथ में जल का सम्बन्ध होता है, उस २ का गुण और रंग-विकार जल में प्रतीत होता है। इसी प्रकार जीव का

हाल है। जैसे जल विकार को प्राप्त होने पर भी जल अंश में शुद्ध जल ही है इसी प्रकार जीव कैसा भी विकारी क्यों न हो जाय तो भी जीव तत्त्व—आत्म अंशमें शुद्ध ही है। जीवमें जिस २ विकार की प्रतीति होती है, उपाधि से होती है। शुद्ध तत्त्व के बोध सहित उपाधि को निवृत्त करना विदेहमुक्ति कहलाती है।

ऊपर बताई हुई विदेहमुक्ति को समझने के निमित्त नदी और समुद्र का दृष्टान्त लेकर समझाते हैं:—नदी में जल है और समुद्र में भी जल है। जल के रूप से दोनों एक ही हैं, स्थान भेद से और स्थान के संग के भेद से दोनों में भेद प्रतीत होता है। नदी किसी पहाड़ से चालू होती है, पहाड़ के नीचे के भाग में होती हुई अनेक पाषाण, बूटियां आदि का संग करती हुई उनके भाव से विकारी होती हुई, भूमि पर आ पहुंचती है, वहां भी जो २ नीची जमीन आती जाती है, उसी पर नदी को चलना पड़ता है, चलने में नदी अच्छी बुरी जमीन अथवा पूर्व पश्चिम आदि दिशा का ध्यान नहीं रख सकती, कोई भी दिशा हो जहां नीची जमीन मिलती है, वहां ही चलने लगती है इसी से कभी कभी सीधी कभी टेढ़ी कभी सर्प के समान चाल वाली होती हुई आगे चलती है, बहुत सा जल जमीन के गड्ढे ले लेते हैं। सीधी चाल के बदले उलटी चाल चलने लगती है। कई स्थानों पर कितनी दूर तक बहुत सी शाखायें भी हो जाती हैं। आगे ऊंचाई मिलने से वहां ही रुकना पड़ता है। मुख्य प्रवाह प्रबल होने से ऊंचाई को काटता हुआ, अपना मार्ग करता हुआ, बीच में आने

वाले पत्थरों को हटाता हुआ अथवा स्वयं हटता हुआ आगे चलता है। बड़ी नदी में बहुत सी छोटी २ नदियां भी मिलती चली जाती हैं। जो २ थोड़े जल वाली नदियां पहाड़ में से चालू होती हैं, वे बीच में ही रुक जाती हैं, विशेष जल और प्रवाह न होने से आगे नहीं जा सकतीं। कोई २ नदी तालाव में जाकर बन्द हो जाती है। किसी का जल जमीन में ही समाप्त हो जाता है। किसी का जल किसी रेतीले स्थान में समाप्त हो जाता है। अपने आद्य स्थान समुद्र को प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार अज्ञानी मनुष्यों का हाल है। जो विशेष मलिन अंतःकरण वाले, प्रपंच में ही आसक्ति वाले हैं, उन्हें अपने आद्य स्थान परमपद का भाव ही नहीं होता। कभी किसी को भाव होता भी है तो जैसे बड़ी नदी में सामर्थ्य और वेग होता है ऐसा न होने से उसका आत्म प्राप्ति का सामर्थ्य और मुमुक्षुता की तेजी प्रपंच में ही नष्ट होती रहती है। तीव्र वेग वाली और विशेष जल समूह वाली बड़ी नदी के समान शुद्ध अंतःकरण वाला अधिकारी के लक्षणों से युक्त जो तीव्र मुमुक्षुता वाला होता है, वह संसारिक अनेक बाधा करने वाली आपत्ति रूप पहाड़ों पत्थरों को तोड़ता हुआ, हटाता हुआ आगे बढ़ता ही चला जाता है। जैसे बड़ी नदी सब मार्ग को तै करके समुद्र की तरफ ही चली जाती है इसी प्रकार तीव्र मुमुक्षु परब्रह्म की तरफ ही जाता है। जब नदी समुद्र में मिलती है तब मिलने में थोड़ा २ भेद है। नदी का समुद्र में मिलना विदेहमुक्त के समान है। नदी प्राणी है. समुद्र परमात्मा है। जहां नदी समुद्र में मिलती है वहां समुद्र से चार पांच मील की दूरी

पर नदी का प्रवाह होते हुए भी नदी समुद्र के जल से मेल युक्त होती है। जब समुद्र में ज्वार आता है तब समुद्र का जल नदी के जल के ऊपर आजाता है। वहां नदी का जल नीचे होता है और समुद्र का जल ऊपर होता है। यदि नदीकी तलहटी में से जल लिया जाय तो वह नदी का होता है, खारी नहीं होता। उस स्थान की नदी समुद्र से भिन्न व्यक्ति रूप है इसलिये शरीर के समान है और थोड़े समय में व्यक्ति भाव को छोड़ देने वाली होने से विदेह रूप है। जीवन्मुक्त ज्ञानी इसी के समान होता है। जैसे उस नदी का शरीर है वैसे ही जीवन्मुक्त का शरीर है। जैसे समुद्र के जल से नदी का जल दबा हुआ है वैसे ही जीवन्मुक्त भाव से विदेहमुक्त है। देह सहित भाव से विदेह होना स्वरूप से नदी के समान नहीं है। उससे थोड़ी दूर समुद्र की तरफ़ का जल जो समुद्र के विशेष भाव वाला है, वह ब्रह्म-लोक में गये हुए भाव विदेह के समान है। इससे भी एकांध मील आगे जो जल है, उसको उस विदेहमुक्त परमहंस के समान समझना चाहिये। जिसे शरीर होते हुए भी शरीर का भान नहीं है। उस स्थान की नदी का जल खारी और मीठा दोनों जल मिला हुआ होता है। ऊपर, नीचे अथवा मध्य कहीं से भी जल लिया जाय तो नदी का सा मीठा जल नहीं होता, खारी ही होता है और समुद्र के समान विशेष खारी भी नहीं होता। जैसे नदी की आकृति दीखती है ऐसे ही विदेही का शरीर दूसरों को दीखता है। जैसे नदी में नदी का जल नहीं है ऐसे ही विदेही को भी अपने व्यक्तित्व का बोध नहीं है, यह स्थिति नदी और समुद्र के

समीप के संयम पर ही होती है। जैसे समुद्र में कितनेक दूर बहने के बाद नदी का सम्पूर्ण भाव जाता रहता है, वहां संपूर्ण समुद्र का ही जल हो जाता है, इसी प्रकार देहरहित विदेह को समझना चाहिये क्योंकि यहां जैसे नदी और नदी का जल दोनों नहीं रहते, इसी प्रकार विदेही का देह और भाव दोनों ही नहीं रहते। ब्रह्मा के साथ विदेह को प्राप्त होने वाला अथवा जीवन्मुक्त होकर विदेहमुक्त होने वाला अथवा ब्रह्मा के साथ अधिकार समाप्त करके निर्वाण को प्राप्त होने वाले अधिकारी को समुद्र में सम्पूर्ण रीति से मिली हुई नदी के समान समझना चाहिये।

इसका क्रम इस प्रकार है:—समुद्र से तीन चार मील पर मिलने वाली नदी के समान जीवन्मुक्त है, समुद्र से एकाध मील पर मिलने वाली नदी के समान सदेह किन्तु देह के बोध रहित विदेहमुक्त है और बीच समुद्र में मिलने वाली नदी के समान देह रहित विदेहमुक्त है। जैसे नदी का कल्याण समुद्र में ही है ऐसे ही प्रत्येक प्राणी का कल्याण परब्रह्म में ही है। समुद्र जैसे सब प्रकारकी भिन्न २ नदियोंको अपने में मिलाकर अपना स्वरूप बना लेता है, इसी प्रकार परब्रह्म में मिलने वाला भी अपने नाम, रूप, गुण, क्रिया आदि भिन्न भाव—व्यक्तिपने को निवृत्त करके परब्रह्म स्वरूप ही होजाता है, यह विदेह कैवल्य है।

"जिस प्रकार नमक की डेली समुद्र में मिल कर समुद्र रूप हो जाती है इसी प्रकार मनुष्यादिक का नाम, रूप, गुण आदि वाला पृथक् व्यक्तित्व परब्रह्म में एक भाव को प्राप्त हो जाय, वह विदेहमुक्ति है। नमक की डेली समुद्र के जल से बनती है, उसका नाम और आकार जल का ही घन भाव है। नमक की डेली समुद्रके जलसे भिन्न प्रतीत होती है परन्तु वस्तुतः वह समुद्र का जल ही है इसलिये समुद्र में मिलने से समुद्र का जल ही हो जाती है, कुछ भी नमक की भिन्नता नहीं रहती है। जब डेली थी तब नाम रूपादि से भिन्नता प्रतीत होती थी। यह भिन्नता प्रतीति मात्र-मिथ्या थी। इसी प्रकार प्राणीको समझना चाहिये। सब में रहा हुआ चैतन्य एक अखंडित है। अविद्या से व्यक्ति का नाम रूप है। जैसे समुद्र में मिलने पर नमक की डेली की भिन्नता नहीं रहती; इसी प्रकार जब अविद्या की समूल निवृत्ति हो जाती है तब प्राणी की परब्रह्म से किंचित् भी भिन्नता नहीं रहती !"

एक सन्त ने कितने ही अधिकारी पुरुषों के सामने जब इस प्रकार विदेहमुक्ति का विवेचन किया तो वहां बैठे हुए पुरुषों में से एक पुरुष शंका करता हुआ बोल उठा "महाराज ! आपने जीवन्मुक्ति से परे विदेहमुक्ति का वर्णन किया, उसमें अनेक शंकायें होती हैं, यदि आप मुझे आज्ञा दें तो मैं आपके सामने उन शंकाओं को प्रकट करूं।" सन्त ने कहा "तू मेरे पास कभीर आता है, मैं तेरी योग्यता को जानता हूँ। मैंने जिस विदेह-

युक्ति का वर्णन किया है, उनका समझना अत्यन्त कठिन है। ज्ञानी पुरुष ही ज्ञान के प्रभाव से उसका किंचित् लक्ष कर सकता है मैंने जिन लोगों के लिये कथन किया है, वे दीर्घ काल के सत्संगी हैं। उनमें से कई ज्ञान वाले हैं और कई ज्ञान भूमिका के समीप तक पहुँचे हुए हैं तेरी बुद्धि तीव्र अवश्य है परन्तु जितनी शुद्ध होनी चाहिये उतनी शुद्ध नहीं है। प्रथम तो तुझमें असंभावना, विपरीत भावना और विक्षेपादि इतने घनिष्ठ हैं कि तू यथार्थ रीति से समझ नहीं सकता और कहीं कुछ थोड़ा बहुत समझ भी ले तो निश्चय रहित होने से धारण नहीं कर सकता। इसलिये तुझे समझाने का परिश्रम करना ही व्यर्थ है जिनके लिये मैंने कथन किया है, उन में से कोई उसके सम्बन्ध में पूछना चाहे तो मैं उसे समझा सकता हूं।" तब बैठे हुए श्रोताओं में से एक भाविक जो ज्ञान भूमिका के अत्यन्त निकट था, कहने लगा "महाराज! आपका कहना यथार्थ है, सामान्य मनुष्यों को तत्त्व ज्ञान समझना ही कठिन है तो आज का विषय जो तत्त्व ज्ञान स्वरूप है, कैसे समझ में आवे? फिर भी आप सामर्थ्य वाले हो, जिनको आप समझाने का प्रयत्न कर रहे हो, उनमेंसे कोई कुछ भी नहीं पूछता तो न समझनेवाला जो पूछ रहा है, उसे ही पूछने दीजिये। यह बात अवश्य है कि आपके युक्तिपूर्वक समझानेपर भी वह समझनेवाला नहीं है तो भी हम लोगोंमेंसे कोई न कोई उसे समझकर दृढ़ निश्चयपर आवेगा। वर्षाका कुछ प्रयो-जन न होते हुए भी जिस प्रकार ऊंच नीच न देखते हुए सब

पर वर्षा होती है, वर्षा यह नहीं देखती कि जिसको जल की आवश्यकता है, उसी पर वर्षूं, इसी प्रकार सन्तों का स्वभाव होता है, इसलिये मेरी यह प्रार्थना है कि आप शंका करने वाले को शंका करने दीजिये, शंकाओं का समाधान होने से किसी न किसी का अवश्य भला होगा।" मुमुक्षु के इस प्रकार के वचन सुन कर सन्त ने उस मनुष्य को शंका करने की आज्ञा दी।

शंकाः—एक शरीर का मरण होने पर दूसरा शरीर धारण किया जाता है, ऐसा सब जानते हैं तो भी स्थूल शरीर का नाश होना कोई नहीं चाहता। स्थूल शरीर के नाश में व्यक्तित्व नहीं जाता और आप तो ऐसा कहते हो कि विदेहमुक्ति में हमेशा के लिये व्यक्तित्व का नाश हो जाता है। ऐसी विदेह-मुक्ति कौन चाहेगा? आपके कहने के अनुसार तो विदेहमुक्ति वह वस्तु है कि जिसमें हमेशा के लिये अपना नाश हो जाय। शरीर से भोगों की प्राप्ति होती है, शरीर न रहेगा तब सुख वाले भोग किस प्रकार मिलेंगे? परमात्मा ज्योतिस्वरूप कहा जाता है, उसमें मिल जाना तो इस प्रकार है जैसे अग्नि में गिर कर अपना नाश करना। विदेहमुक्ति में भोक्तापना नहीं है, किसी प्रकार की क्रिया नहीं है दूसरा नहीं है तब दूसरे से होने वाला आनन्द किस प्रकार होगा? आनंद स्वरूप कहोगे तो उसका अनुभव करने वाला कौन होगा? क्योंकि जीव तो है ही नहीं! आप तो शरीर सहित हो, आपने उस स्थिति का कभी अनुभव किया नहीं है, न आप कर सकते हो और जिसने

अनुभव किया है, वह यहां आकर वर्णन कर नहीं सकता तब विदेहमुक्ति का वर्णन हो नहीं सकता और आप करते हो इसलिये आपका कथन झूंठ ही है।

समाधानः—कोई शरीर का नाश होना नहीं चाहता, ऐसा तेरा कथन व्यवहारिक दृष्टि से ठीक दीखता है। मैं यह पूछता हूं कि सृष्टि के आरम्भ काल से आज तक मरना न चाहने वालों में से कौन नहीं मरा ? सिद्ध, योगी, यती, ऋषि, मुनि, तपस्वी, ज्ञानी और अवतारादिक किसी का भी स्थूल शरीर नहीं रहा, तब स्थूल शरीरका नाश न चाहनेवालेको क्या फल ? दुःखादिके सिवाय और कोई फल नहीं है। आर्य शास्त्र वाले, भिन्न २ रीति से मोक्ष में जाने की इच्छा करने वाले, सबका यह निर्णय है कि शरीर दुःखों का घर है, जब तक शरीर रहता है तब तक दुःख रहता है इसलिये जिससे दुःख होता है, उस अज्ञान—अविवेक के नाश सहित शरीर का नाश होने से ही दुःख रहित स्थिति प्राप्त होती है। शास्त्रकी दृष्टिसे शरीर दुःख रहित नहीं होसक्ता। व्यवहारिक दृष्टि से भी विचार कर देखा जाय तो स्पष्ट मालूम होगा कि शरीरधारी कोई भी दुःख रहित नहीं होता। सृष्टि के आदि से अब तक सब मनुष्यों में से एक भी ऐसा नहीं हुआ, जो दुःख रहित हो। देश, काल, अवस्था, तत्त्व, धातु आदिक अनेकों के नियमितपने में ही जिसका जीवन है, ऐसा शरीर उनमें से किसी एक के न्यूनाधिक होने में, स्वस्थ नहीं रहता और विशेष विक्रिया से नाश को प्राप्त होजाता है। शरीर में जन्म, प्रकटता, वृद्धि,

परिणाम, अपक्षय और नाश ये छः विकार स्वाभाविक हैं इसलिये वह एक हालत में कभी नहीं रह सक्ता इससे सिद्ध होता है कि उसमें दुःख ही है। कोई कहे कि दुःख भले हो, साथ में सुख भी तो है, सुखकी लालसा से हम थोड़ा सा दुःख भी सहन कर लेना चाहते हैं। इस प्रकार की बुद्धि वाला हमारे उपदेश का अधिकारी नहीं है क्योंकि उसकी बुद्धि इतनी दूषित है कि वह यथार्थ देख नहीं सकता। जिसको लौकिक में सुख कहते हैं, वास्तव में वह भी सुख नहीं है। थोड़े समय के लिये उसे सुख मान लिया जाय तो भी सुखकी अपेक्षा से दुःख अत्यन्त अधिक है इसलिये लौकिक सुख की चाहना वालों को भी शरीर ही दुःख देने वाला है, ऐसा भान होना चाहिये। देखते, सुनते, समझते भी जिसको ऐसा बोध न हो वह अत्यन्त मूढ़ है। शरीर में का लौकिक सुख वास्तविक सुख क्यों नहीं है, इसका उत्तर सुनः—जिसमें—जिसके सहारे से सुख की प्रतीति होती है वह विकारी और नाशवंत है इसलिये उससे उत्पन्न हुआ सुख भी विकारी और नाशवंत है और लौकिक सुख ही लौकिक दुःख की विशेष प्रतीति कराने वाला है इसलिये विद्वान् उस सुख को दुःख मानते हैं, जो सुख दुःखकी प्रतीति का हेतु हो वह वास्तविक सुख कैसे होसक्ता है ? नहीं होसक्ता। जिस सुख में चले जाने का भय रहे, वह वास्तविक सुख नहीं है। इन सब कारणों से विषयों द्वारा शरीर में होने वाले सुख और दुःख दोनों को ही विद्वान् दुःख रूप मान कर शरीर न हो और परमानन्द की प्राप्ति हो इस निमित्त शुद्ध अन्तःकरण से परम पुरुषार्थ में लग जाते हैं।

सुख की चाहना सब करते हैं, यह ठीक है परंतु शरीर से होने वाले सुख की चाहना करना अज्ञान है। ऊपर जैसे दुःख रहित सुख का कथन किया है वैसा सुख शरीर और शरीर के कारण व्यक्ति अहंकार के रहते हुए कभी भी होना संभव नहीं है और हमेशा के लिये संपूर्ण दुःख की निवृत्ति भी शरीर और शरीर के कारण रूप व्यक्ति अज्ञान—अहंकार के रहते हुए बन नहीं सकती। संपूर्ण दुःख की निवृत्ति और अखंड सुख की प्राप्ति ये दोनों विदेह कैवल्य में सिद्ध होते हैं, दुःख की निवृत्ति शरीर रहते हुए नहीं हो सकती, यह तो थोड़े विचार से सब की समझ में आसक्ता है परन्तु शरीर रहित जो परम सुख—परमानंद बताया जाता है, वह सब के समझने का विषय नहीं है क्योंकि देहाभिमानी ऐसा नहीं समझ सकता कि देह रहित में परम सुख है। विदेह परमानंद रूप है, यह देहाभिमानियों के समझने का विषय नहीं है। जिसका अंतःकरण शुद्ध हुआ है, जो ज्ञानवान् है और विदेह के भाव युक्त है, वह ही कुछ समझ सकता है। विदेह में और सुषुप्ति में महान् अंतर है तो भी एक बात में समता है। विदेह में द्वैतता नहीं रहती और सुषुप्ति में भी द्वैतता का भान नहीं होता। यदि व्यक्ति भाव रहित सुख न हो तो जहां व्यक्ति भाव का भान नहीं है, ऐसी सुषुप्ति होने की सब क्यों इच्छा करते हैं ? सुख रहित में प्राणियों को इच्छा होना असंभव है। थोड़े समय की सुषुप्ति अवस्था से स्वप्न और जाग्रत के सब व्यवहार करने का सामर्थ्य होता है। जिसको नींद नहीं

आती, वह अपने को दुःखी और रोगी समझता है। इसलिये सुषुप्ति में सुख का बोध न होते हुए भी सुख अवश्य है। जब सुषुप्ति, जहां अज्ञान गया नहीं है और व्यक्ति अभिमान भी टूटा नहीं है, ऐसी अवस्था भी सुखदायिनी लगती है तब विदेह कैवल्य, जहां अज्ञान नहीं है, व्यक्ति अभिमान भी संपूर्ण टूट गया है और द्वैतता भी नहीं है वहां परम सुख क्यों न होगा? अवश्य होना चाहिये। यदि कोई कहे कि सुषुप्ति में दुःख का अभाव है, सुख नहीं है, सुषुप्ति जो अच्छी लगती है, वह तो दुःख के अभाव के कारण अच्छी लगती है, सुख होने से अच्छी नहीं लगती तो इसका उत्तर यह है कि जब दुःख नहीं है तब जो रहा वह क्या है? सुख ही है। दुःख का विरुद्ध भाव ही लौकिक सुख है। यदि जिसमें विषय प्रसन्नता—प्रियता है, उसे ही सुख कहते हो तो सुषुप्ति में भी प्रिय, मोद और प्रमोद वृत्तियां हैं, वे वृत्तियां इतनी सूक्ष्म हैं कि सामान्य मनुष्य उन्हें समझ नहीं सकते। इसीलिये सुषुप्ति में सुख नहीं मानते, यह ही अज्ञान है।

जो अपने स्वरूप को नहीं जानते, वे ही ऐसा कहते हैं कि विदेह कैवल्य में हमेशा के लिये अपना नाश करना है, शरीर और शरीर का अभिमानी जीव अपना वास्तविक स्वरूप नहीं है। अपना स्वरूप तो इस प्रकार का शुद्ध और विकार रहित है कि उसका नाश कभी होता ही नहीं, कोई उसका नाश करने को समर्थ नहीं है। जो विकारी और नाश होने वाला है, उसका ही नाश होता है।

परब्रह्म को ज्योति स्वरूप जो कहा है, वह अज्ञान की अपेक्षा से है। परब्रह्म अग्नि के समान उष्ण और जलाने वाला नहीं है। जैसे अग्नि अग्नि को नहीं जलाता, जल जल को नहीं भिगोता, इसी प्रकार ज्योति स्वरूप आत्मा को ज्योति स्वरूप परब्रह्म नहीं जलाता। आत्मा विकारी न होते हुए भी विकार वाली अविद्या के साथ अज्ञान से उसका एकमेक भाव होने से वह अपने को मरने जीने वाला और सुखी दुःखी–विकारी समझता है, इस अज्ञान की निवृत्ति ही विदेह कैवल्य है। वस्तुतः तो आत्मा का विदेह कैवल्य अखंडित ही है, व्यवहार दशा में व्यक्ति भाव वाले को समझाने के निमित्त विदेह शब्द की योजना है, सदेह न होना समझाने को विदेह कहा है, तत्त्व में तो कोई प्रतिपक्षी ही नहीं है इसलिये सदेह अथवा विदेह की वहां कल्पना ही नहीं हो सकती। जिसको ऐसा भाव है कि मेरा नाश होता है, उसे ही नाश होने की कल्पना होती है। जीवन्मुक्त विदेह-मुक्ति को समझता है इसलिये जीवन्मुक्त को नाश होने का भाव कभी भी नहीं होता। जीवन्मुक्त अपने वास्तविक स्वरूप को पर-ब्रह्म रूप ही मानता है, सम्पूर्ण अज्ञान सहित उपाधियों का स्वरूप से निवृत्त होना विदेह कैवल्य कहलाता है। भोग की प्राप्ति भोक्ता को होती है ? जो महा भोक्ता है, उसे पृथक् भोग की प्राप्ति कहां ? चाहे ऊंचे हों, चाहे नीचे हों, जितने भोग हैं सब रोग, दुःख और कष्टदायक हैं, सब भोग और भोक्ता की सिद्धि अज्ञान में है, अज्ञान न रहने से नहीं रहती। परम तत्त्व में भोग और भोक्ता कोई नहीं है, ऐसा किंचित् बोध भी जिसे

को है, वह भोक्ता बने रहने और भोग करने की लालसा में पड़े रह कर अपने स्वरूप के भाव को नष्ट करना नहीं चाहता। जिसे लौकिक ऐश्वर्य अति प्रिय है, वह परम तत्त्व का अधिकारी ही नहीं है। ऐसा मनुष्य भोग की लालसा से बारंबार दूसरे का भोग बनकर अपनेको कुचल देना ही चाहता है। धिक्कार है उसे! विदेहमुक्ति में पृथक् भोक्तापना न होते हुए भी महा भोक्ता होने से योग के आनन्द से अनन्त गुणा आनन्द स्वरूप में है, वह अज्ञानियों के समझने तक का विषय नहीं है, जीवन्मुक्त स्वानुभव से ही उस परमानन्द का समाधि में अनुभव कर सकता है।

जैसे किसी जंगल में रहने वाले मनुष्य ने कभी मिष्टान्न नहीं खाया है, वह गुड़ को ही सर्व श्रेष्ठ समझता है इसी प्रकार अज्ञानी लौकिक आनन्द को आनन्द मानते हैं, परमानन्द को नहीं समझते। यथार्थता से ज्ञानी ही उसे समझ सकता है, जैसे कूप का मेंढक कूप को ही महान् समुद्र मानता है, इसी प्रकार अविद्या कूप में गिरे हुए भोगकी लालसा वाले अज्ञानियों का बोध कूपके मेंढकके समान ही होता है। जैसे मेंढक कूपके गड्ढेमें दीवार के भीतर रहना ही पसन्द करता है; इसी प्रकार अज्ञानी अविद्या के बाहर निकलना नहीं चाहते। मल का कीट मल में रहना ही पसन्द करता है, यह ही उनकी गति है। अनुभव में विषय और अनुभव करने वाले की आवश्यकता है। आत्म अनुभव में सूक्ष्म वृत्ति होती है। विदेह कैवल्य अनुभव स्वरूप है, वहां वृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

आनन्द दूसरे में है, ऐसा कहने वाले भले कहें। हम विदेह कैवल्य में आनन्द नहीं बतावे, परमानंद स्वरूप कहते हैं परमानंद स्वरूप होने से अन्य अनुभव करने वाले की आवश्यकता नहीं है। विदेहमुक्तिका बोध विदेहमुक्त ही को होता है तो भी जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति के समीप होने से जीवन्मुक्तको समाधिमें विदेहमुक्ति का बोध होता है इसलिये जीवन्मुक्त अनुभव करके अधिकारियोंके प्रति विदेहमुक्ति का कथन कर सकता है। विदेही विदेह का बोध कर के फिर जन्मता नहीं है इसलिये विदेह का कथन व्यर्थ है यह कहना ठीक नहीं है। शब्द कह कर लक्ष करने वालों को लक्ष करा सकते हैं वास्तविक अनुभव स्वयं अनुभव से ही होता है।

जो अधिकारी हैं; वे हमारे कथन को समझ सकते हैं, यदि अन्य न समझें तो उन्हीं का दोष है, यह बात हम प्रथम कह चुके हैं, जीवन्मुक्ति के बाद विदेहमुक्ति स्वयं होती है, विदेह-मुक्ति के लिये कोई विशेष कर्तव्य नहीं है क्योंकि जीवन्मुक्ति में कर्तव्य की समाप्ति हो जाती है, जीवन्मुक्ति लेशाविद्या वाली होती है और जिसमें लेशाविद्या की भी समाप्ति हो जाय, वह विदेह कैवल्य है, ज्ञान होने के बाद जो कुछ प्रारब्ध भोग शेष रहता है, उसको समाप्त करने की अवस्था जीवन्मुक्ति कहलाती है। प्रारब्ध समाप्त होने के बाद जीवन्मुक्त स्वयं विदेहमुक्त है स्थूल शरीर का नाश होना ही विदेहमुक्ति नहीं है।

स्थूल शरीर का नाश होने पर भी अविद्या का नाश न होने से वारम्वार स्थूल शरीर धारण करना पड़ता है, अज्ञानियों के स्थूल शरीर के नाश के साथ उनके सूक्ष्म और कारण शरीरका नाश नहीं होता। स्थूल शरीर होते हुए आत्म बोध से अविद्या के निवृत्त होने पर और दृढ़ आत्म भावमें स्थित होने पर पश्चात् जब स्थूल शरीर का नाश होता हैं तब सूक्ष्म और कारण शरीर जो अविद्या के ऊपर टिके हुए हैं, अविद्या का अभाव होने से उन तीनों शरीरों का अविद्या में लय होता ह, वह विदेह कैवल्य है।



वेदान्त केसरी कार्यालय की पुस्तकें।

वेदान्त केसरी मासिक पत्र।

दसवां साल चालू है वार्षिक मूल्य ३) वर्ष के मध्य में ग्राहक होने वालों को वर्ष के आरंभ से सब अंक लेने होंगे मई मास से वर्ष आरंभ होता है नमूने की कापी मुफ्त नहीं मिलती। एक प्रति का मूल्य पांच आना। पिछले नवों साल की जिल्द (प्रत्येक बारह अंकों की) तय्यार हैं, थोड़ी कापियां शेष रही हैं। श्रीमच्छङ्कराचार्य्य के अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण वेदान्त की प्रक्रिया आगई है। प्रत्येक का मूल्य ३)

उपासना—इसमें साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्म तथा कारण ब्रह्म आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होकर आत्म साक्षात्कार होता है। मूल्य ॥)

चर्पट पंजरिका—"भज गोविंदं भज गोविंदं" पद्य का विवेचन सहित भाषानुवाद है। अनेक दृष्टांतों से रोचक है। सम श्लोकी पद्य भी हैं। मूल्य १)

कौशल्य गीतावली भाग १—२—वेदान्त केसरी में आई हुई कविताओं का संग्रह। कविता रोचक सरल और ज्ञान के संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप है। प्रत्येक भाग का मूल्य ।≈)

वेदान्त स्तोत्र संग्रह—श्रीमच्छङ्कराचार्य्य आदि के प्रतिभाशाली वेदान्त के मुख्य २ चुने हुए २१ स्तोत्रों का संग्रह। मूल्य ॥)

वेदान्त दीपिका—इस ग्रन्थ में जिज्ञासु को स्वाभाविकता से होने वाली शंकाओं का अत्यन्त मार्मिकता से समाधान किया गया है। वेदान्त के महत्त्व के ग्रन्थों को पढ़ने पर भी जिन शंकाओं का समाधान न होने से जिज्ञासु का चित्त अशान्त रहता है, वे शंकाएं इस ग्रन्थ को पढ़ने से समूल नष्ट हो जायगी। ग्रन्थ को पढ़ते समय जो नयी शंकाए उत्पन्न होंगी उनका समाधान आगे ही मिलने से पाठकों को अत्यन्त आनन्द होगा। भाषा अत्यन्त सरल होने से सामान्य भाषा ज्ञान वाले भी इससे लाभ उठा सकते हैं सजिल्द मूल्य १॥)

काया पलट नाटक—राजा रानी और मंत्री के रूप से जीव बुद्धि और मन का जगत की आसक्ति में फंसना और सद्गुरु के उपदेश द्वारा ज्ञान भाव में आने का वर्णन है। प्रारब्ध दुःख आदि का भी वर्णन है। मूल्य ।)

वाक्य सुधा—वेदान्त ग्रन्थों में ज्ञान समाधि का वर्णन बहुत स्थान पर है परन्तु इसमें जैसा वर्णन है ऐसा सूक्ष्म वर्णन और स्थान में कहीं नहीं मिलता रहस्य पूर्ण विवेचन से भली प्रकार समझाया गया है मुमुक्षुओं को अत्यन्त हितकर है। मूल्य १)

उपनिषद्—इसमें भिन्न २ प्रकार की उपासना, ज्ञान के अपूर्व अनुभव तथा योग की रहस्यमय क्रियाओं का अनुभव युक्त वर्णन है। सरल हिन्दी भाषा में ५१ उपनिषदों का अनुवाद। सुन्दर छपाई के ५५० के करीब पृष्ठ की कपड़े की जिल्द। मूल्य २॥) सब पुस्तकोंका डाक खर्च ग्राहकोंको देना होगा।

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज—आगरा।